प्रेम कहानियां

प्रेम कहानियां

संपादक
महेश दर्पण

रूपा एंड कंपनी

प्रथम संस्करणः 1989

प्रकाशकः

रूपा एंड कंपनी
15 बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता 700 073
94 साउथ मलाका रोड, इलाहाबाद 211 001
102 प्रसाद चैंबर्स, ओपेरा हाउस, बंबई 400 004
3831 पटौदी हाउस रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली 110 002

आवरणः एस. करमाकर

मुद्रकः गोपसंस पेपर्स प्राइवेट लिमिटेड
ए 28, सेक्टर 9
नोएडा

टाइप सेटर्सः मेगाटेकनिक्स
19 ए, अंसारी रोड
नयी दिल्ली 110 002

मूल्यः पंद्रह रुपये

PREM KAHANIYAN EDITOR : MAHESH DARPAN Rs. 15

कहानियों से पहले

पुरुष और स्त्री झरोखे में बैठे वसंत का आनंद ले रहे थे। स्त्री ने कहा, "तुम रूपवान हो, धनवान हो और सलीके से रहते हो, मैं तुमसे प्रेम करती हूं।"

पुरुष उसकी ओर देखते हुए बोला, "मैं भी तुम्हें प्यार करता हूं। तुम एक सुंदर कल्पना हो। ऐसी सूक्ष्म वस्तु, जो हाथ से नहीं पकड़ी जा सकती। मेरे सपनों में झंकृत होने वाला सुमधुर संगीत हो तुम।"

स्त्री लगभग खीझ उठी थी। उसने अपना मुंह फेर लिया और बोली, "रहने दो, मैं कल्पना नहीं हूं। तुम्हारे सपने में आने वाली वस्तु भी नहीं हूं। मैं एक स्त्री हूं। मैं चाहती हूं कि तुम मुझे अपनी संगिनी और अपने बच्चे की मां की तरह स्वीकार करो।"

कुछ देर बाद वे दोनों अलग हो गये। मन ही मन पुरुष ने कहा, "फिर एक सपना अंधकार में बदल गया।"

उधर स्त्री के मुंह से निकला, "अच्छा हुआ, ऐसे इंसान का क्या भरोसा। मुझे अंधकार और स्वप्न में बदल देना चाहता था। ..."

मानव-इतिहास में पहला प्रेमी-युगल कौन रहा होगा, यह तो खोज का विषय है पर विपरीत सेक्स के प्रति आकर्षण का यह पहला भाव ही प्रेम है ... और शायद ही कोई इंसान इस धरती पर होगा जो इसे अंधकार या सपने में बदलते देखना चाहता हो। खलील जिब्रान की यह कहानी, स्त्री-पुरुष संबंधों पर आज नये सिरे से सोचने पर मजबूर करती है। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जीवन युगल रूप में ही आंतरिक पूर्णता पा सकता है। यहां पहुंच कर हम उस सत्य से साक्षात कर लेते हैं जहां अपने होने से ज्यादा दूसरे के होने का एहसास आकार लेता है। प्रगाढ़ होते जा रहे विश्वास का यह आकार ही प्रेम है। ... और इस प्रेम की खातिर दुनिया की बड़ी-से-बड़ी चीज को भी ठुकराया जा सकता है। ऐसा न होता तो हीर-रांझा, शीरीं-फरहाद, लैला-मजनूं, नल-दमयंती, मिर्जा-साहिबां, सोहनी-महिवाल, सस्सी-पुन्नू, माधवानल-कामकंदला और इन सबसे ऊपर कृष्ण-राधा जैसे कालजयी प्रेम-चरित्र हमेशा-हमेशा के लिए हमारे भीतर न रच-बस गये होते। ... आज हम यह न जान सके होते कि महज देह प्रेम का आधार नहीं होती। देह के भोग और प्रेम के अंतर में से पैदा होने वाली मनोवैज्ञानिक गुत्थियों की एक बड़ी दुनिया से हम तब अजाने ही रह जाते। हम यह भी नहीं जान पाते कि प्रेम करने के लिए एक उम्र ही काफी नहीं होती। प्रेम में आखिर यह कैसी शक्ति होती है जो इंसान को स्मृतियों के सहारे भी युगों तक जिलाए रख सकती है?

आज समाज जिस तेजी से बदल रहा है ... वहां प्रेम-ऊष्मा अपने मूल स्वरूप को कहां तक बनाये रख सकेगी, यह तो आने वाला समय ही बता सकेगा पर इस संग्रह की कहानियों के जरिये मनुष्य की इस आंतरिक अभिलाषा को समझा जरूर जा सकता है। व्यक्ति की मानसिकता को रेखांकित करते हुए मानवीय संवेदना की कोमलतम पारदर्शी अनुभूतियों को उजागर करना हो या इन अनुभूतियों की स्मृतियों के जाग जाने भर से फिर एक बार जीवन में ताजगी भरी बयार का स्पर्श दिखा देना ... कुल मिलाकर, ये कहानियां जीवन में प्रेम को एक ऐसी प्रभावी शक्ति के रूप में सामने रखती हैं जो जटिल से जटिल पहेलियों का भी सहज समाधान खोज लाती हैं। यहां यदि जयशंकर प्रसाद से लेकर उदय प्रकाश तक की कहानियां संकलित की गयी हैं तो उसका तर्कभी यही है कि बदलते जा रहे समाज में प्रेम की अनुभूति के ताप को लंबे

कथा-आयोजन के जरिए चीन्हा जा सके। प्रेम के विविध रूप, रंग और आयाम एक साथ प्रस्तुत करने की यह कोशिश एक विनम्र कथात्मक पहल का पहला भाग है, जो संग्रहीत कहानीकारों और उनके उत्तराधिकारियों के सहयोग व रूपा एंड कंपनी के उत्साह के बिना साकार नहीं हो सकता था।

-महेश दर्पण
सी-3/51 सादतपुर,
दिल्ली- 110 094

कथा-क्रम

गुंडा	जयशंकर प्रसाद	1
रिश्ते	द्विजेंद्र नाथ मिश्र 'निर्गुण'	11
उपहार	शिव प्रसाद सिंह	25
रसप्रिया	फणीश्वर नाथ रेणु	32
आत्मकथन	लक्ष्मी नारायण लाल	43
लवर्स	निर्मल वर्मा	50
यही सच है	मन्नू भंडारी	61
जो लिखा नहीं जाता	कमलेश्वर	81
राम सजीवन की प्रेम कथा	उदय प्रकाश	89

गुंडा

जयशंकर प्रसाद

1

वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियां नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूछें बिच्छू के डंक की तरह, देखनेवालों की आँखों में चुभती थीं। उसका सांवला रंग, सांप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से ही ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खुंसा रहता था। उसके घुंघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कंधे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँडासा, यह थी उसकी धज ! पंजों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुंडा था।

ईसा की अठाहरवीं शताब्दी के अंतिम भाग में वही काशी नहीं रह गयी थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए विद्वान ब्रह्मचारी आते थे। गौतम बुद्ध और शंकराचार्य के धर्म-दर्शन के बाद वाद-विवाद, कई शताब्दियों से लगातार मंदिरों और मठों के ध्वंस और तपस्वियों के वध के कारण प्रायः बंद से हो गए थे, यहां तक कि पवित्रता और छुआछात में कट्टर वैष्णव धर्म भी उस विश्रृंखलता में, नवागन्तुक धर्मोन्माद में अपनी असफलता देखकर काशी में अघार रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र बल के सामने झुकते देखकर काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने, एक नवीन संप्रदाय की सृष्टि की, वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंह-वृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्रण-भिक्षा मांगनेवाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वंद्वी पर शस्त्र न उठाना, सताये निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए घूमना, उसका बाना था। उन्हें लोग काशी में गुंडा कहते थे।

जीवन की किसी अलभ्य अभिलाषा से वंचित होकर जैसे प्रायः लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित जमींदार

का पुत्र होने पर भी, नन्हकूसिंह गुंडा हो गया था। दोनों हाथ से उसने अपनी संपत्ति लुटायी। नन्हकूसिंह ने बहुत सा रुपया खर्च करके जैसा स्वांग खेला था, उसे काशी वाले बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। बसन्त ऋतु में यह प्रहसन पूर्ण अभिनय खेलने के लिए उन दिनों प्रचुर धन, बल, निर्भीकता और उच्छृंखलता की आवश्यकता होती थी। एक बार नन्हकूसिंह ने भी एक पैर में नुपुर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हजारों के मोती तथा दूसरे कान में फटे हुए जूते का तल्ला लटका कर, एक में जड़ाऊ मूठ की तलवार, दूसरा हाथ आभूषणों से लदी हुई अभिनय करनेवाली प्रेमिका के कन्धे पर रखकर गाया था-

"कहीं बैंगन वाली मिले तो बुला देना।" "कहीं बैंगनवाली मिले तो बुला देना।"

प्रायः बनारस के बाहर की हरियालियों में, अच्छे पानी वाले कुओं पर, गंगा की धारा में मचलती हुई डोंगी पर वह दिखलाई पड़ता था। कभी-कभी जुआखाने से निकलकर जब वह चौक में आ जाता, तो काशी की रंगीली वेश्याएं मुस्कराकर उसका स्वागत करतीं और उसके दृढ़ शरीर को सस्पृह देखतीं। वह तमोली की ही दुकान पर बैठकर उनके गीत सुनता, ऊपर कभी नहीं जाता था। जुए की जीत का रुपया मुट्ठियों में भर-भरकर, उनकी खिड़की में वह इस तरह उछालता कि कभी-कभी समाजी लोग अपना सिर सहलाने लगते, तब वह ठठाकर हंस देता। जब कभी लोग कोठे के ऊपर चलने के लिए कहते, तो वह उदासी की सांस खींचकर चुप हो जाता।

वह अभी वंशी के जुआखाने से निकला था। आज उसकी कौड़ी ने साथ न दिया। सोलह परियों के नृत्य में उसका मन न लगा। मन्नू तमोली की दुकान पर बैठते हुए उसने कहा, "आज सायत अच्छी नहीं रही, मन्नू !"

" क्यो मालिक ! चिन्ता किस बात की है। हम लोग किस दिन के लिए हैं। सब आपका ही तो है।"

"अरे, बुद्धू ही रहे तुम ! नन्हकूसिंह जिस दिन किसी से लेकर जुआ खेलने लगे उसी दिन समझना वह मर गये। तुम जानते नहीं कि मैं जुआ खेलने कब जाता हूँ। जब मेरे पास एक पैसा नहीं रहता; उसी दिन नाल पर पहुंचते ही जिधर बड़ी ढेरी रहती है, उसी को बदता हूँ और फिर वही दाँव आता भी है। बाबा कीनाराम का यह वरदान है!"

"तब आज क्यों, मालिक ?"

"पहला दाँव तो आया ही, फिर दो-चार हाथ बदने पर सब निकल गया। तब भी लो, यह पांच रुपये बचे हैं। एक रुपया तो पान के लिए रख लो और चार दे दो मलूकी कथक को, कह दो कि दुलारी से गाने कि लिए कह दे। हाँ, वही एक गीत-विलमि विदेश रहे।"

नन्हकूसिंह की बात सुनते ही मलूकी, जो अभी गाँजे की चिलम पर रखने के लिए अँगारा चूर कर रहा था, घबराकर उठ खड़ा हुआ। वह सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ

चढ़ गया। चिलम को देखता ही ऊपर चढ़ा, इसीलिए उसे चोट भी लगी; पर नन्हकूसिंह की भृकुटी देखने की शक्ति उसमें कहाँ। उसे नन्हकूसिंह की वह मूर्ति न भूली थी, जब इसी पान की दुकान पर जुए खाने से जीता हुआ, रुपये से भरा तोड़ा लिए वह बैठा था। दूर से बोधीसिंह की बारात का बाजा बजता हुआ आ रहा था। नन्हकू ने पूछा, "यह किसकी बारात है?"

"ठाकुर बोधीसिंह के लड़के की ।" मन्नू के इतना कहते ही नन्हकू के ओंठ फड़कने लगे। उसने कहा, "मन्नू ! यह नहीं हो सकता। आज इधर से बारात न जायेगी। बोधीसिंह हमसे निपट कर तब बारात इधर से ले जा सकेंगे।"

मन्नू ने कहा, "तब मालिक, मैं क्या करूँ?"

नन्हकू गँडासा कन्धे पर से ऊँचा करके मलूकी से बोला, "मलुकिया देखता है, अभी जा ठाकुर से कह दे, कि बाबू नन्हकूसिंह आज यहीं लगाने के लिये खड़े हैं। समझकर आवें, लड़के की बारात है।" मलुकिया काँपता हुआ ठाकुर बोधीसिंह के पास गया। बोधीसिंह और नन्हकू में पाँच वर्ष से सामना नहीं हुआ है। किसी दिन नाल पर कुछ बातों में ही कहा सुनी होकर, बीच-बचाव हो गया था। फिर सामना नहीं हो सका। आज नन्हकू जान पर खेलकर अकेले खड़ा है। बोधीसिंह भी उस आन को समझते थे। उन्होनें मलूकी से कहा, "जा बे, कह दे कि हम को क्या मालूम कि बाबू साहब वहां खड़े हैं। जब वह हैं ही, तो दो समधी जाने का क्या काम है।" बोधीसिंह लौट गए और मलूकी के कन्धे पर तोड़ा लादकर बाजे के आगे नन्हकूसिंह बारात लेकर गए। ब्याह में जो कुछ लगा, खर्च किया। ब्याह कराकर तब, दूसरे दिन इसी दुकान तक आकर रुक गये। लड़के को और उसकी बारात को उसके घर भेज दिया।

मलूकी को भी दस रुपया मिला था उस दिन। फिर नन्हकूसिंह की बात सुनकर बैठे रहना और यम को न्योता देना एक ही बात थी। उसने जाकर दुलारी से कहा, "हम ठेका लगा रहे हैं, तुम गाओ, तब तक बल्लू सारंगी वाला पानी पीकर आता है।"

"बाप रे, कोई आफत आयी है क्या बाबू साहब? सलाम ।" कहकर दुलारी ने खिड़की से मुस्कराकर झांका था कि नन्हकूसिंह उसके सलाम का जवाब देकर, दूसरे एक आनेवाले को देखने लगे।

हाथ में हरौती की पतली-सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुंह में पान, मेंहदी लगी हुई लाल दाढ़ी, जिसकी सफेद जड़ दिखलाई पड़ रही थी, कुब्बेदार टोपी, छकलिया अँगरखा और साथ में लैसदार परतवाले दो सिपाही ! कोई मौलवी साहब हैं। नन्हकू हँस पड़ा। नन्हकू की ओर बिना देखे ही मौलवी ने एक सिपाही से कहा, "जाओ, दुलारी से कह दो कि आज रेजीडेण्ट साहब की कोठी पर मुजरा करना होगा, अभी चले, देखो तब तक हम जानअली से कुछ इत्र ले रहे हैं।" सिपाही ऊपर चढ़ रहा था और मौलवी दूसरी

ओर चले थे कि नन्हकू ने ललकारकर कहा,"दुलारी ! हम कब तक यहाँ बैठे रहें ! क्या अभी सरंगिया नहीं आया?"

दुलारी ने कहा, "वाह बाबू साहब ! आप ही के लिए मैं यहाँ आ बैठी हूँ, सुनिये न ! आप तो कभी ऊपर..." मौलवी जल उठा। उसने कड़ककर कहा, "चोबदार ! अभी वह सूअर की बच्ची उतरी नहीं। जाओ, कोतवाल के पास मेरा नाम लेकर कहो कि मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ने बुलाया है। आकर उसकी मरम्मत करें। देखता हूँ तो जब से नवाबी गयी, इन काफिरों की मस्ती बढ़ गयी है।"

कुबरा मौलवी ! बाप रे-तमोली अपनी दुकान सम्हालने लगा। पास ही एक दुकान पर बैठ कर ऊँघता हुआ बजाज चौंककर सिर में चोट खा गया ! इसी मौलवी ने तो महाराज चेतसिंह से साढ़े तीन सेर चींटी के सिर का तेल मांगा था। मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ! बाजार में हलचल मच गयी। नन्हकूसिंह ने मन्नू से कहा, "क्यों, चुपचाप बैठोगे नहीं !" दुलारी से कहा, "वहीं से बाईजी ! इधर-उधर हिलने का काम नहीं। तुम गाओ। हमने ऐसे घसियारे बहुत-से देखे हैं। अभी कल रमल के पासे फेंककर अधेला-अधेला माँगता था, आज चला है रौब गाँठने।"

अब कुबरा ने घूम कर उसकी ओर देखा, "कौन है यह पाजी !"

"तुम्हारे चाचा बाबू नन्हकूसिंह !" के साथ ही पूरा बनारसी झापड़ पड़ा। कुबरा का सिर घूम गया। लैस के परत वाले सिपाही दूसरी ओर भाग चले और मौलवी साहब चौंधियाकर जानअली की दुकान पर लड़खड़ाते, गिरते-पड़ते किसी तरह पहुंच गये।

जानअली ने मौलवी से कहा, "मौलवी साहब ! भला आप भी उस गुण्डे के मुंह लगने गये। यह तो कहिये कि उसने गँडासा नहीं तौल दिया।" कुबरा के मुंह से बोली नहीं निकल रही थी। उधर दुलारी गा रही थी "...विलमि विदेस रहे..." गाना पूरा हुआ, कोई आया-गया नहीं। तब नन्हकूसिंह धीरे-धीरे टहलता हुआ, दूसरी ओर चला गया। थोड़ी देर में एक डोली रेशमी परदे से ढकी हुई आयी। साथ में एक चोबदार था। उसने दुलारी को राजमाता पन्ना की आज्ञा सुनायी।

दुलारी चुपचाप डोली पर जा बैठी। डोली धूल और सन्ध्याकाल के धुएं से भरी हुई बनारस की तंग गलियों से होकर शिवालय घाट की ओर चली।

2

श्रावण का अंतिम सोमवार था। राजमाता पन्ना शिवालय में बैठकर पूजन कर रही थीं। दुलारी बाहर बैठी कुछ अन्य गानेवालियों के साथ भजन गा रही थी ! आरती हो जाने पर, फूलों की अँजलि बिखेरकर पन्ना ने भक्तिभाव से देवता के चरणों में प्रणाम किया। फिर प्रसाद लेकर बाहर आते ही उन्होंने दुलारी को देखा। उसने खड़ी होकर हाथ जोड़ते

हुए कहा, "मैं पहले ही पहुंच जाती। क्या करूँ, वह कुबरा मौलवी निगोड़ा आकर रेजीडेण्ट की कोठी पर ले जाने लगा। घण्टों इसी झंझट में बीत गया, सरकार !"

"कुबरा मौलवी ! जहां सुनती हूं, उसी का नाम। सुना है कि उसने यहाँ भी आकर कुछ..."-फिर न जाने क्या सोचकर बात बदलते हुए पन्ना ने कहा-"हां, तब फिर क्या हुआ? तुम यहाँ कैसे आ सकीं?"

"बाबू नन्हकूसिंह उधर से आ गये। मैंने कहा, 'सरकार की पूजा पर भजन गाने के लिए जाना है। और यह जाने नहीं दे रहा है।' उन्होंने मौलवी को ऐसा झापड़ लगाया कि उसकी हेकड़ी भूल गयी। और तब जाकर मुझे किसी तरह यहां आने की छुट्टी मिली।"

" कौन बाबू नन्हकूसिंह !"

दुलारी ने सिर नीचा करके कहा, "अरे, क्या सरकार को नहीं मालूम? बाबू निरंजनसिंह के लड़के ! उस दिन, जब मैं बहुत छोटी थी, आपकी बारी में झूला झूल रही थी, जब नवाब का हाथी बिगड़ कर आ गया था, बाबू निरंजनसिंह के कुँवर ने ही तो उस दिन हम लोगों की रक्षा की थी।"

राजमाता का मुख उस प्राचीन घटना को स्मरण करके न जाने क्यों विवर्ण हो गया। फिर अपने को संभालकर उन्होने पूछा, "तो बाबू नन्हकूसिंह उधर कैसे आ गये?"

दुलारी ने मुस्कराकर सिर नीचा कर लिया ! दुलारी राजमाता पन्ना के पिता की जमींदारी में रहनेवाली वेश्या की लड़की थी। उसके साथ ही कितनी बार झूले-हिंडोले अपने बचपन में पन्ना झूल चुकी थी। वह बचपन से ही गाने में सुरीली थी। पर चंचल भी थी। पन्ना जब काशी राज की माता थी, तब दुलारी काशी की प्रसिद्ध गानेवाली थी। राजमहल में उसका गाना-बजाना हुआ ही करता। महाराज बलवन्त सिंह के समय से ही संगीत पन्ना के जीवन का आवश्यक अंश था। हाँ, अब प्रेम-दुःख और दर्द-भरी विरह कल्पना के गीत की ओर अधिक रुचि न थी। अब सात्विक भावपूर्ण भजन होता था। राजमाता पन्ना का वैधव्य से दीप्त शान्त मुख-मंडल कुछ मलिन हो गया।

बड़ी रानी की सापत्न्य ज्वाला बलवन्तसिंह के मर जाने पर भी नहीं बुझी। अन्तःपुर कलह का रंगमंच बना रहता, इसी से प्रायः पन्ना काशी के राजमन्दिर में आकर पूजा-पाठ में अपना मन लगाती। रामनगर में उसको चैन नहीं मिलता। नयी रानी होने के कारण बलवन्तसिंह की प्रेयसी होने का गौरव तो उसे था ही, साथ में पुत्र उत्पन्न करने का सौभाग्य भी मिला, फिर भी असवर्णता का सामाजिक दोष उसके हृदय को व्यथित किया करता। उसे अपने ब्याह की आरम्भिक चर्चा का स्मरण हो आया।

छोटे से मंच पर बैठी, गंगा की उमड़ती हुई धारा को पन्ना अन्यमनस्क होकर देखने लगी। उस बात को, जो अतीत में एक बार, हाथ से अनजाने में खिसक जाने वाली वस्तु की तरह गुप्त हो गयी हो; सोचने का कोई कारण नहीं। उससे कुछ बनता बिगड़ता भी नहीं; परन्तु मानव स्वभाव हिसाब रखने की प्रथानुसार कभी-कभी कह बैठता है, "कि

यदि वह बात हो गयी होती तो?" ठीक उसी तरह पन्ना भी राजा बलवन्तसिंह द्वारा बलपूर्वक रानी बनायी जाने के पहले की एक संभावना को सोचने लगी थी। सो भी बाबू नन्हकूसिंह का नाम सुन लेने पर। गेंदा मुंहलगी दासी थी। वह पन्ना के साथ उसी दिन से है, जिस दिन से पन्ना बलवन्तसिंह की प्रेयसी हुई। राज्य-भर का अनुसंधान उसी के द्वारा मिला करता। और उसे न जाने कितनी जानकारी भी थी। उसने दुलारी का रंग उखाड़ने के लिए कुछ कहना आवश्यक समझा।

"महारानी ! नन्हकूसिंह अपनी सब जमींदारी स्वांग, भैंसों की लड़ाई, घुडदौड़ और गाने-बजाने में उड़ा कर अब डाकू हो गया है। जितने खून होते हैं, सब में उसी का हाथ रहता है। जितनी..." उसे रोककर दुलारी ने कहा, "यह झूठ है। बाबू साहब के ऐसा धर्मात्मा तो कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएं उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढकती हैं। कितनी लड़कियों की ब्याह-शादी होती है। कितने सताए हुए लोगों की उनके द्वारा रक्षा होती है।"

रानी पन्ना के हृदय में एक तरलता उद्वेलित हुई। उन्होने हंसकर कहा, "दुलारी, वे तेरे यहां आते हैं न? इसी से तू उनकी बड़ाई..."

"नहीं सरकार ! शपथ खाकर कह सकती हूँ कि बाबू नन्हकूसिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर भी नहीं रखा।"

राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चंचल हो उठी थीं। तब भी उन्होंने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा। वह चुप हो गयी। पहले पहर की शहनाई बजने लगी। दुलारी छुट्टी मांग कर डोली पर बैठ गयी। तब गेंदा ने कहा, "सरकार ! आजकल नगर की दशा बड़ी बुरी है। दिन-दहाड़े लोग लूट लिए जाते हैं। सैकड़ों जगह नाला पर जुए में लोग अपना सर्वस्व गँवाते हैं। बच्चे फुसलाए जाते हैं। गलियों में लाठियां और छुरा चलने के लिए टेढ़ी भौंहें कारण बन जाती हैं। उधर रेजीडेण्ट साहब से महाराज की अनबन चल रही है।" राजमाता चुप रही।

दूसरे दिन राजा चेतसिंह के पास रेजीडेण्ट मार्क्हेम की चिट्ठी आयी, जिसमें नगर की दुर्व्यवस्था की कड़ी आलोचना थी। डाकुओं और गुण्डों को पकड़ने के लिए, उन पर कड़ा नियंत्रण रखने की सम्मति भी थी। कुबरा मौलवीवाली घटना का भी उल्लेख था। उधर हेस्टिंग्स के आने की भी सूचना थी। शिवालय घाट और रामनगर में हलचल मच गई ! कोतवाल हिम्मतसिंह, पागल की तरह, जिसके हाथ में लाठी, लोहांगी, गँडासा, बिछुआ और करौली देखते, उसी को पकड़ने लगे।

एक दिन नन्हकूसिंह सुम्भा के नाले के संगम पर, ऊँचे से टीले की घनी हरियाली में अपने चुने हुए साथियों के साथ दूधिया छान रहे थे। गंगा में, उनकी पतली डोंगी बड़ की जटा से बंधी थी। कथकों का गाना हो रहा था। चार उलांकी इक्के कसे-कसाये खड़े थे।

नन्हकूसिंह ने अकस्मात कहा, "मलूकी ! गाना जमता नहीं है। उलांकी पर बैठ कर जाओ, दुलारी को बुला लाओ।" मलूकी वहां मजीरा बजा रहा था। दौड़ करके इक्के पर जा बैठा। आज नन्हकूसिंह का मन उखड़ा था। बूटी कई बार छानने पर भी नशा नहीं। एक घंटे में दुलारी सामने आ गयी। उसने मुस्कराकर कहा, "क्या हुकुम है बाबू साहब?"

"दुलारी ! आज गाना सुनने का मन कर रहा है।"

"इस जंगल में क्यों?" उसने सशंक होकर कुछ अभिप्राय से पूछा।

"तुम किसी तरह का खटका न करो।" नन्हकूसिंह ने हँसकर कहा।

"यह तो मैं उस दिन महारानी से भी कह आयी हूँ।"

"क्या, किससे?"

"राजमाता पन्ना देवी से" फिर उस दिन गाना नहीं जमा। दुलारी ने आश्चर्य से देखा कि तानों में नन्हकू की आँखें तर हो जाती हैं। गाना-बजाना समाप्त हो गया था। वर्षा की रात में झिल्लियों का स्वर उस झुरमुट में गूंज रहा था। मन्दिर के समीप ही छोटे से कमरे में नन्हकूसिंह चिन्ता निमग्न बैठा था। आँखो में नींद नहीं। और सब लोग तो सोने लगे थे, दुलारी जाग रही थी। वह भी कुछ सोच रही थी। आज उसे, अपने को रोकने के लिए कठिन प्रयत्न करना पड़ रहा था; किन्तु असफल होकर वह उठी और नन्हकू के समीप धीरे-धीरे चली आयी। कुछ आहट पाते ही चौंककर नन्हकूसिंह ने समीप ही पड़ी हुई तलवार उठा ली। तब तक हंसकर दुलारी ने कहा, "बाबू साहब, यह क्या? स्त्रियों पर भी तलवार चलायी जाती है !"

छोटे से दीपक के प्रकाश में वासना-भरी रमणी का मुख देखकर नन्हकू हँस पड़ा। उसने कहा, "क्यों बाईजी ! क्या इसी समय जाने की पड़ी है। मौलवी ने फिर बुलाया है क्या?" दुलारी नन्हकू के पास बैठ गयी। नन्हकू ने कहा, "क्या तुमको डर लग रहा है?"

"नहीं, मैं कुछ पूछने आयी हूँ।"

"क्या?"

"क्या...यही कि....कभी तुम्हारे हृदय में..."

"उसे न पूछो दुलारी ! हृदय को बेकार ही समझकर तो उसे हाथ में लिए फिर रहा हूं। कोई कुछ कर देता-कुचलता-चीरता-उछालता ! मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ, पर मरने नहीं पाता।"

"मरने के लिये भी कहीं खोजने जाना पड़ता है। आपको काशी का हाल क्या मालूम ! न जाने घड़ी भर में क्या हो जाए। क्या उलट-पलट होने वाला है, बनारस की गलियां जैसे काटने दौड़ती हैं।"

"कोई नयी बात इधर हुई है क्या ?"

"कोई हेस्टिंग्ज आया है। सुना है उसने शिवालयघाट पर तिलंगों की कंपनी का

पहरा बैठा दिया है। राजा चेतसिंह और राजमाता पन्ना वहीं हैं। कोई-कोई कहता है कि उनको पकड़कर कलकत्ता भेजने..."

"क्या पन्ना भी..रनिवास भी वहीं है", नन्हकू अधीर हो उठा था।

"क्यों बाबू साहब, आज रानी पन्ना का नाम सुनकर आपकी आँखों में आँसू क्यों आ गये ?"

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा ! उसने कहा, "चुप रहो, तुम उसको जानकर क्या करोगी ?" वह उठ खड़ा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा। फिर स्थिर होकर उसने कहा , "दुलारी ! जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकान्त रात में एक स्त्री मेरे पलंग पर आकर बैठ गयी है। मैं चिरकुमार ! अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैकड़ों असत्य, अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों ? तुम जानती हो ? मैं स्त्रियों का घोर विद्रोही हूं और पन्ना !...किन्तु उसका क्या अपराध ! अत्याचारी बलवन्तसिंह के कलेजे में बिछुआ मैं न उतार सका । किन्तु पन्ना ! उसे पकड़कर गोरे कलकत्ते भेज देंगे ! वही...।"

नन्हकूसिंह उन्मत्त हो उठा था। दुलारी ने देखा, नन्हकू अँधकार में ही वट-वृक्ष के नीचे पहुंचा और गंगा की उमड़ती हुई धारा में डोंगी खोल दी-उसी घने अंधकार में। दुलारी का हृदय काँप उठा।

3

१६ अगस्त सन् १७८१ को काशी डाँवाडोल हो रही थी। शिवालयघाट में राजा चेतसिंह लेफ्टिनेण्ट इस्टाकर के पहरे में थे। नगर में आतंक था। दुकानें बन्द थीं। घरों में बच्चे अपनी मां से पूछते थे, 'मां, आज हलुए वाला नहीं आया।' वह कहती, 'चुप बेटे!' सड़कें सूनी पड़ी थीं। तिलंगों की कम्पनी के आगे-आगे कुबरा मौलवी कभी-कभी, आता-जाता दिखाई पड़ता था। उस समय खुली हुई खिड़कियां बन्द हो जाती थीं। भय और सन्नाटे का राज्य था। चौक में चिथरूसिंह की हवेली अपने भीतर काशी की वीरता को बन्द किए कोतवाल का अभिनय कर रही थी। इसी समय किसी ने पुकारा, "हिम्मतसिंह!"

खिड़की में से सिर निकाल कर हिम्मतसिंह ने पुकारा, "कौन?"

"बाबू नन्हकूसिंह!"

"अच्छा, तुम अब तक बाहर ही हो ?"

"पागल ! राजा कैद हो गये हैं। छोड़ दो इन सब बहादुरों को ! हम एक बार इनको लेकर शिवालयघाट जायें।"

"ठहरो!" कहकर हिम्मतसिंह ने कुछ आज्ञा दी, सिपाही बाहर निकले। नन्हकू की तलवार चमक उठी। सिपाही भीतर भागे। नन्हकू ने कहा, "नमकहरामों चूड़ियां

पहन लो।" लोगों के देखते-देखते नन्हकूसिंह चला गया। कोतवाली के सामने फिर सन्नाटा हो गया।

नन्हकू उन्मत्त था। उसके थोड़े-से साथी उसकी आज्ञा पर जान देने के लिए तुले थे। वह नहीं जानता था कि राजा चेतसिंह का क्या राजनैतिक अपराध है? उसने कुछ सोचकर अपने थोड़े से साथियों को फाटक पर गड़बड़ मचाने के लिए भेज दिया। इधर अपनी डोंगी लेकर शिवालय की खिड़की के नीचे धारा काटता हुआ पहुंचा। किसी तरह निकले हुए पत्थर में रस्सी अटकाकर, उस चंचल डोंगी को उसने स्थिर किया और बन्दर की तरह उछलकर खिड़की के भीतर हो रहा। उस समय वहाँ राजमाता पन्ना और राजा चेतसिंह से बाबू मनियारसिंह कह रहे थे, "आपके यहां रहने से, हम लोग क्या करें, यह समझ में नहीं आता। पूजा-पाठ समाप्त करके आप रामनगर चली गयी होतीं, तो यह..."

तेजस्विनी पन्ना ने कहा, "मैं रामनगर कैसे चली जाऊँ ?"

मनियारसिंह दुखी होकर बोले, "कैसे बताऊँ? मेरे सिपाही तो बन्दी हैं।"

इतने में फाटक पर कोलाहल मचा। राज-परिवार अपनी मन्त्रणा में डूबा था कि नन्हकूसिंह का आना उन्हें मालूम हुआ। सामने का द्वार बन्द था। नन्हकूसिंह ने एक बार गंगा की धारा को देखा-उसमें एक नाव घाट पर लगने के लिए लहरों से लड़ रही थी। वह प्रसन्न हो उठा। इसी की प्रतीक्षा में वह रुका था। उसने जैसे सबको सचेत करते हुए कहा, "महारानी कहाँ हैं ?"

सबने घूमकर देखा-एक अपरिचित वीर-मूर्ति ! शस्त्रों में लदा हुआ पूरा देव !

चेतनसिंह ने पूछा, "तुम कौन हो ?"

"राज-परिवार का एक बिना दाम का सेवक !"

पन्ना के मुंह से हलकी-सी एक साँस निकलकर रह गयी। उसने पहचान लिया। इतने वर्षों बाद ! वही नन्हकूसिंह।

मनियारसिंह ने पूछा, "तुम क्या कर सकते हो ?"

"मैं मर सकता हूँ ! पहले महारानी को डोंगी पर बिठाइये। नीचे दूसरी डोंगी पर अच्छे मल्लाह हैं। फिर बात कीजिए।" मनियारसिंह ने देखा, जनानी ड्योढ़ी का दारोगा राज की एक डोंगी पर चार मल्लाहों के साथ खिड़की के साथ नाव सटाकर प्रतीक्षा में है। उन्होने पन्ना से कहा, "चलिये, मैं साथ चलता हूँ।"

"और..."-चेतसिंह को देखकर, पुत्रवत्सला ने संकेत से एक प्रश्न किया, उसका उत्तर किसी के पास न था। मनियारसिंह ने कहा, "तब मैं यहीं ?" नन्हकू ने हंसकर कहा-"मेरे मालिक , आप नाव पर बैठें। जब तक राजा भी नाव पर न बैठ जायेंगे, तब तक सत्रह गोली खाकर भी नन्हकूसिंह जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता है।"

पन्ना ने नन्हकू को देखा। एक क्षण के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें जन्म-जन्म का विश्वास ज्योति की तरह जल रहा था। फाटक बलपूर्वक खोला जा रहा था। नन्हकू ने उन्मत्त होकर कहा, "मालिक ! जल्दी कीजिए।"

दूसरे क्षण पन्ना डोंगी पर थी और नन्हकूसिंह फाटक पर इस्टाकर के साथ ।

चेतराम ने आकर एक चिट्ठी मनियारसिंह को हाथ में दी। लेफ्टिनेण्ट ने कहा, "आपके आदमी गड़बड़ मचा रहे हैं। अब मैं अपने सिपाहियों को गोली चलाने से नहीं रोक सकता।"

"मेरे सिपाही यहां हैं, साहब?" मनियारसिंह ने हंसकर कहा। बाहर कोलाहल बढ़ने लगा।

चेतराम ने कहा, "पहले चेतसिंह को कैद कीजिये।"

"कौन ऐसी हिम्मत करता है ?" कड़ककर कहते हुए बाबू मनियारसिंह ने तलवार खींच ली। अभी बात पूरी न हो सकी थी कि कुबरा मौलवी वहाँ पहुंचा ! यहाँ मौलवी साहब की कलम नहीं चल सकती थी, और न ये बाहर ही जा सकते थे। उन्होंने कहा, "देखते क्या हो चेतराम !"

चेतराम ने राजा के ऊपर हाथ रखा ही था कि नन्हकू के सधे हुए हाथ ने उसकी भुजा उड़ा दो। इस्टाकर आगे बढ़े, मौलवी साहब चिल्लाने लगे। नन्हकूसिंह ने देखते-देखते इस्टाकर और उसके कई साथियों को धराशायी किया। फिर मौलवी साहब कैसे बचते !

नन्हकूसिंह ने कहा, "क्यों, उस दिन के झापड़ ने तुमको समझाया नहीं? पाजी !" कहकर ऐसा साफ जनेवा मारा कि कुबरा ढेर हो गया। कुछ ही क्षणों में वह भीषण घटना हो गयी, जिसके लिए अभी कोई प्रस्तुत न था।

नन्हकूसिंह ने ललकारकर चेतसिंह से कहा, "आप क्या देखते हैं ? उतरिये डोंगी पर !" उसके घावों से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर आने लगे थे। चेतसिंह ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलंगों की संगीनों में वह अविचिलित होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान्-सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है। गुंडे का एक-एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुंडा था !

रिश्ते

द्विजेंद्र नाथ मिश्र ' निर्गुण '

कल दस अगस्त है। दस अगस्त को ही तुझसे मेरी पहली भेंट हुई थी...कुछ याद है ? तुम्हें भला क्या कल्पना होगी कि मैं उस दिन को 'वर्षगांठ' मनाता हूँ !

तेरह-चौदह साल की एक मामूली-सी लड़की सस्ते गल्ले की दुकान से राशन लेने आई। दुकान से वजनी झोला लेकर चली। मुश्किल से चार-पाँच कदम बढ़ी होगी कि झोला फट गया बीच गली में।

तब क्यू में सबसे पीछे खड़ा एक नौजवान, जिसकी मसें भीग रही थीं, लाइन छोड़कर चला आया। लड़की वहीं गली में बैठी अपने गेहूँ बटोर रही थी कोमल-कोमल हाथों से और धीरे-धीरे रो रही थी। निःशब्द। नौजवान कुछ बोला नहीं। उसने जल्दी-जल्दी सारा गेहूँ अपने थैले में भरा। उठ कर खड़ा हुआ, लड़की तो भी सिर झुकाए बैठी थी। उसने सोच-साच कर एक वाक्य कहा, "किधर है तुम्हारा मकान ? चलो, वहाँ तक पहुँचा दूं।"

क्या तुम्हें कुछ भी याद नहीं पड़ता ? तुमने खड़ी होकर पहली बार मेरी ओर देखा था गीली पलकों वाली गुलाबी-गुलाबी आँखों से। (जरा-सा रोने से ही तुम्हारी आँखें गुलाबी हो जाती हैं न !)

तुम्हें तुम्हारे घर तक पहुँचाकर लौटने लगा, तो गली से मुड़ता और तुम्हें, तुम्हारी उस करुण दृष्टि को मन के गोपन अंतराल में सहेजता मैं अपने आप से क्या बोला था, जानती हो ?

बेशरम होकर मैंने अकेले में कहा था-तुम मेरी जान लोगी किसी दिन ! बिल्कुल यही शब्द थे। कितने बेहूदा शब्द थे ! यह 'जान लेना' क्या होता है, तुम जानती हो?

एक-एक करके ये सात साल बीतते चले गये हैं और तुम्हारी रूपश्री लजाती-सकुचाती, हौले-हौले पग धरती सात सीढ़ियाँ ऊपर चढ़ आई है, नवयौवन के द्वार तक।हौले-हौले पग धरती सात सीढ़ियाँ ऊपर चढ़ आई है, नवयौवन के द्वार तक।

कल फिर उसी गली में जाना है। उस चिह्नित स्थल को देखना है, जहाँ तुम्हारे

गेहूँ गिरे थे, जहाँ तुम्हारी आँखें आंसुओं से गुलाबी-गुलाबी हो गईं थीं, जहाँ खड़े होकर तुमने मुझे पहली बार अपलक निहारा था, दृष्टिदान दिया था।

जब-जब बरसात आती है, आसमान पर काली घटाएं घिरती आती हैं, झमझम करके मेंह बरसता है, बादल गरजते हैं और बिजली चमकती है, तो अनायास ही मेरा सम्पूर्ण ध्यान तुम्हारे ऊपर केंद्रित हो जाता है। ऐसा जाने क्यों होता है ! सोचती रहती हूँ, जाने कहाँ बैठे होगे तुम । जाने क्या कर रहे होगे इस बेला !

तुमने तो बी.ए. में संस्कृत ली थी न ? कालिदास का 'मेघदूत' पढ़ा है न ? जरा उस पद्य को याद करो..."तां कस्याचिद् भवन बल भो सुप्तपारावतायाम्।" विरही यक्ष ने मेघ से कहा...सारे दिन की दौड़-धूप से परेशान तुम और थकी-माँदी तुम्हारी प्रियतमा विद्युत भला रात का बसेरा कहां करोगे? सुनो बंधु, किसी ऊँची अटारी में चुपचाप रात बिता देना अपनी घरवाली के साथ, जहाँ, जिस अटारी में गुटर-गूँ करके कबूतरों का जोड़ा सो गया हो।

तुम्हें मालूम है, कबूतर कब सोते हैं ? मेरे कमरे के बाहर सड़क की ओर वह बरामदा है न, उसमें कबूतरों का एक जोड़ा बसता है। बिल्कुल सन्नाटा न हो जाए, तब तक वे जागते रहते हैं।

ऐसी ही बरसात के दिन थे, जब मैंने तुम्हें पहली बार जाना था। तुम्हें वह छोटी-सी घटना कभी याद पड़ती है ? जल्दी-से गेहूँ निकालकर तुम्हारा थैला लौटाने आई थी दरवाजे तक । तुमने हाथ बढ़ा दिया। मैंने थैला आगे कर दिया । तुमने थैला पकड़ लिया। मैंने हाथ पीछे कर लिया। सिर डाले तुम चल दिए। गली के मोड़ पर एक बार पीछे घूम कर तुमने देखा, फिर तुम छिप गए।

तुम भला क्या जानो ! बहुत दिनों तक ऐसा होता रहा, दरवाजा खोलती, तो सोचती जाती, तुम खड़े मिलो शायद चौखट के पार। फिर झांक कर देखती, गली के मोड़ पर तो नहीं खड़े हो! पर तुम फिर किसी दिन नजर न आये।

...कई महीने तक फिर तुम्हारे दर्शन न मिले। चंचल रहा मैं। फिर अप्रत्याशित रूप से तुम सामने आई। याद है वह दृश्य ? मंदिर की सीढ़ियों पर ऊपर खड़ी तुम और दर्शन का प्यासा सीढ़ियों के नीचे खड़ा मैं। तुमने ऊपर से मेरी ओर भरपूर नजरों से देखा और तुम्हारे रक्तिम ओंठों पर बेमालूम-सी मुस्कान उभरी। मेरा हृदय मेरा संपूर्ण जड़-चेतन क्षण-भर को आनन्द की अतल गहराइयों में डूब गया। तब तुम्हारे बारे में कुछ भी नहीं जानता था, तुम्हारा नाम तक नहीं। और तुम्हीं मेरे बारे में क्या जानती थीं? तो भी जैसे परिचय हो गया था। शहर में इतनी बेशुमार लड़कियाँ थीं...। मेरे लिए सभी अपरिचित । तुमसे मानो मेरा 'सम्बन्ध' था। पर यह कौन-सा सम्बन्ध था? क्या नाम था इस सम्बन्ध का?

...मैंने तुम्हें हरी के साथ खड़े देखा मंदिर के बाहर । हरी, जो उन दिनों क्लासफेलो था तुम्हारा और मेरे ही घर के ऊपर वाली मंजिल में रहता था। मुझे बहुत अच्छा लगा। यदि वह तुम्हारा दोस्त न होता, तो कौन बतलाता तुम्हारे बारे में कुछ। वह मां को तुम्हारी कहानी सुना रहा था। उसी ने बतलाया कि दो बरस से ऊपर हुआ, तुम्हारे पिता घर से गायब हो गए हैं। तुम्हारी दुखियारी मां है घर में, तुम्हारा छोटा भाई है, उससे छोटी बहिन है और तुम हो। कैसे तुम लोगों की गुजर होती है ? हरी ने बतलाया, तुम्हारी मां सिलाई-कढ़ाई वाले विद्यालय में नौकरी करके तुम्हारा पेट पालती है। मेरे कलेजे में कित्ती चोट लगी थी वह सब सुनकर। सारी रात तुम्हारी मां की करुण मूर्ति आँखों में जागती रही।

याद है, जिस दिन तुम हरी के साथ इस घर में आए थे, जीने से ऊपर चढ़ते एक बार इधर सिर घुमा कर देखा था न ? मेरे हाथ से पतीली सरकते-सरकते रुकी। अकारण ही उद्वेलित हो उठी थी। अकारण क्यों ? कारण तो तुम थे। अब तुम ऊपर से उतरोगे, देखोगे इधर। निर्लज्ज की तरह खड़ी रही मैं कमरे की चौखट पर। मां ने मुझे भीतर से पुकारा और हाय, इसी बीच तुम निकल गये बाहर ! खूब दुख लगा था। और फिर वह दिन भी आया, जब मैं तुम्हारे घर में, तुम्हारे कमरे में, तुम्हारी खाट पर सुधा की जरा सी ओट लिए बैठी तुम्हें इतने निकट से एकटक देख रही थी।

तुमने तो उस बेला नहीं देखा न मेरी ओर। क्यों देखते भला। मैं तुम्हारी थी ही कौन? बस, सुधा से मुखातिब रहे। वह तुम्हारी पड़ोसिन है, 'भैया' कहती है तुमको। मैं कुछ न थी तुम्हारी। 'नागरिकशास्त्र' के सिद्धान्त तुम सुधा को समझाते रहे। मेरी समझ में खाक नहीं आया। तुम्हें आता ही क्या है ? बुद्धू कहीं के ! हंसी आ रही थी। पर तुमसे एक बार पूछती हूँ, परीक्षा में मुझे पास कराने के लिए दौड़े-दौड़े क्यों फिरे थे हरी के साथ? किसने तुमसे प्रार्थना की थी? किसने तुम्हारे हाथ जोड़े थे कि पास करा दो किसी तरह? न पास होती मैं, तुम्हारी बला से। तुम्हारी कौन थी मैं?

जिस दिन पता चला, हरी तुम्हारे वाले घर में ही रहता है, उछल पड़ा मैं। उसने कहा था...मेरे घर में एक बड़ी प्यारी-प्यारी लड़की रहती है। इतनी सलोनी है वह, इतनी सुकुमार है वह, इतनी भली है वह कि तुमसे क्या कहूं। मैं हंसने लगा। हरी ने कुंठित होकर कहा...तुम यार, कोई गलत बात मत सोच बैठना। हमारा भाई-बहिन का रिश्ता है। कुछ लड़कियां ऐसी जरूर होती हैं आज भी, जिन्हें बस दूर से देख लो, तो मन में जाने कैसी शान्ति-सी, तृप्ति-सी, महसूस होती है। दिल खुश हो जाता है एक बारगी। पर तुम उस लड़की को हाथ नहीं लगा सकते। जैसे देवता की मूर्ति होती है न !

यकीनन, मैंने स्वप्न में भी नहीं जाना था कि कुमारी सुरबाला देवी तुम्हीं हो। सोचा

था, होगी कोई सामान्य-सी, भले घर की भली लड़की, क्योंकि उमर हम दोनों मित्रों की वह थी तब, जब कौए के बोलने पर कोयल का भ्रम होता है।

परंतु जब मेरा दोस्त मुझे तुम्हारे दरवाजे तक खींचकर ले गया तो मेरा माथा ठनका। तुम्हीं सुरबाला हो क्या ? देखा, तो तुम्हीं थीं। तब एक शीतल आह्लाद से मेरी छाती भर उठी।

फिर तुम अचानक ही एक दिन मेरे घर में, मेरे कमरे में घुस आईं। जितनी देर तुम मेरे कमरे में रही, मैं सच कहता हूँ, अर्द्धचेतन रहा। विश्वास नहीं हो रहा था कि तुम मेरे बिस्तर पर बैठी हो सुधा की बगल में।

मैं फिर तुम्हारे घर कभी न गई नागरिकशास्त्र पढ़ने। तुम्हें देख पाने की प्यास तो मेरी आज भी गई नहीं है, पर जो दर्शन अप्राप्य सरीखे थे, सुप्राप्य हो गए थे। जब चाहूँ, जिस घड़ी चाहूँ, तुम्हें देख सकती हूँ, यह इतना भारी संतोष लिए मैं मन-ही-मन मुदित थी।

स्कूल छोड़कर कालेज जाने लगी थी । तुमने और हरी ने घंटों बहस करके मेरे सब्जेक्ट्स तय किए थे। किताबें जुटाई थीं। तुम्हारी पढ़ी हुई सिर्फ एक किताब मुझे मिली। क्या हाल कर दिया बेशऊर कहीं के। अस्तव्यस्तता पुरुषों के जिम्मे, और सहालन-सहेजना नारियों के जिम्मे, हर क्षेत्र में और हर देश में यह विधान स्वीकृत हो गया है क्या ?

तुम्हारे कमरे का रंग-ढंग देखकर एक बार तीव्र इच्छा हुई थी, किसी दिन तुम्हारी अनुपस्थिति में यहाँ चली आऊँ चुपचाप और इस कबाड़खाने को दो घंटे की मुहलत में चमन बना दूँ। पर मैं तो फिर तुम्हारे घर गई नहीं।

गई थी उस दिन, जब तुम्हारे ऊपर वज्रपात हुआ था।

हरी घबराया-घबराया-सा मेरी मां के पास आया और उखड़ी-उखड़ी सांसों के बीच बोला, "चाची जी विष्णु की मां मर गई.!" मैं भीतर बैठी पढ़ रही थी । सनाका हो गया। हरी रुककर बोला, "मां को लिए जा रहा हूं। तुम भी चलो, चाची जी, उनके घर में कोई नहीं है...। लाश पड़ी है...।"

जल्दी ही हम सब तुम्हारे घर पहुँच गये थे। हाय भगवान, कैसा असहनीय दारुण दृश्य था और तुम फफक-फफक कर रो रहे थे। तुम्हारी अबोध, गुड़िया-सी छोटी बहिन कोने में बैठी होले-होले सिसक रही थी। मेरी मां ने पहुंचते ही उसे छाती से चिपका लिया। किंकर्त्तव्य-विमूढ़ मैं थर-थर काँपती खड़ी थी कि हरी की माँ ने जमीन पर लेटी, तुम्हारी निष्प्राण मां के मुख से चादर हटा कर देखा उसे । दुःख, शोक, चिंता और दैन्य के अहर्निश भार से जीर्ण, कागज-सा सफेद चेहरा, मुंदे नयन,सटे ओंठ...। कैसी शांति से सो गई है एक चिरविरहिणी तपस्विनी नारी ! उस मुख को देखकर मैं किसी

तरह अपना रुदन रोक न पाई। मेरी मां रो रही थी, हरी की मां रो रही थी। चारों ओर आँसू और क्रन्दन।

और ठीक उसी समय कलेजा तोड़ देने वाली वह घटना हो गई। तुम्हारे छोटे भाई रामू ने मृत मां के चरणों के पास अपना सिर दे मारा पक्के फर्श पर ! नहीं, अब आगे मैं बयान नहीं कर सकूंगी इस करुण-प्रसंग का ! हे नारायण, मौत कितनी भयानक होती है, सो भी अपने प्रियजन की...। किसी प्यारी मां की !

दो महीने से मां बीमार चल रही थी। बीमारी की हालत में ही विद्यालय जाती रही। आखिरकार उसने खाट पकड़ ली और फिर उठ न सकी किसी रोज। उठी थी अरथी पर।

ठीक मृत्यु के पूर्व उसने मुझे अपने पास बुलाया, मेरे सिर पर अपना सूखा-रक्तहीन हाथ फिराती रही, फिर बुझी-सी आवाज में धीमे-धीमे कहने लगी, "बेटा, मैं तुम तीनों की पूरी सेवा न कर सकी। बीच मझदार में तुम्हें छोड़े जा रही हूं बेटा, अपने मां-बाप को शाप मत देना कभी। मौत पर मेरा वश नहीं है। बेटा, अपने भाई-बहिन की रक्षा करना। इन अनाथों का तुम्हारे सिवा अब और कोई नहीं है दुनिया में। हाय, क्या-क्या अभिलाषायें मैंने की थीं...। एक भी पूरी न हुई ! बेटा, कभी अगर तुम्हारे पिता लौट आयें, तो उनसे तुम मेरा संदेशा कह देना...।"

मेरी आँखों के सामने उसके प्राण पखेरू उड़ गए। पता नहीं पिता के लिए क्या संदेश देना चाहती थीं !

...तुम्हारे ऊपर विपदा का पहाड़ टूट पड़ा। क्या करूं, कैसे तुम्हारी पीड़ा बटाऊं।

आकुल होकर छटपटा रही थी, कोई उपाय न सूझता था। दो दिन हरी अपनी मां से खाना बनवा कर ले गया। तीसरे दिन मेरे आगे आकर बोला, "चल मेरे साथ। चाची जी, इसे लिए जाता हूं। खाना बना देगी।"

हरी की चिरकृतज्ञ रहूंगी, यह इतनी-सी सेवा का अवसर मुझे मिला। यही क्या कम था। चार दिन लगातार खाना बनाने गई और तब तुम्हारी बूढ़ी विधवा बुआ आ गईं। मेरा जाना बन्द हो गया।

रामू और सरस्वती...। बिना मां-बाप के अनाथ बालक। नहीं, उनके लिए ये शब्द किसी तरह बरदाश्त नहीं कर सकूंगा। मैं जब तक जीवित हूं, उनके मां-बाप दोनों जीवित हैं। मां, तुम जहां-कहीं भी जिस लोक में होओ, अपने विष्णु का अध्यवसाय देखती रहना...हिम्मत देखती रहना ...।भावनाएं देखती रहना। तुम्हारी आज्ञा को प्राणप्रण से पूरा करने की चेष्टा करूंगा। इन दोनों की रक्षा करूंगा।

गंगा में खड़े होकर, मां की आत्मा को तिलांजलि देते समय मैंने दृढ़ निश्चय के साथ ये वचन कहे थे। आज उस बात को पांच साल होने को आए। ईश्वर साक्षी है, एक क्षण के लिए भी मैंने साहस नहीं खोया, मैंने अपने भाई-बहिन को पाला है। सबेरे-शाम ट्यूशन और रात-रातभर अपनी पढ़ाई।

एम.ए. में दाखिला लेना चाहता था। उधर रामू को इंटर साइंस में प्रवेश कराने में संचित पूंजी उड़ गई। अपने लिए अब एक सौ बीस रुपए कहां पाऊं। हरी के आगे कहा, "पढ़ाई छोड़ दूंगा अब। कोई नौकरी ढूंढ रहा हूँ, छोटी-मोटी ही मिल जाए", और मेरे अजाने ही हरी ने एक सौ बीस जमा कर दिए यूनिवर्सिटी काउंटर पर।

मैं क्लास में जाने लगा। संतुष्ट था। पर मास-पर-मास बीतते गए, रुपए न लौटा पाया। सकुंचित होकर हरी से खुद ही चर्चा की।

हंसने लगा वह। फिर बड़ी शाइस्तगी से बोला, "रुपए देने वाले ने तो कभी तकाजा किया नहीं। जिसने दिए थे, उसकी कामना थी तुम एम.ए. कर लो। कामना पूर्ण हो रही है।"

थोड़ा संदेह हुआ सुनकर। पूछा । हरी ने बतला भी दिया। सुनकर कैसा लगा, सुख लगा, कि दुख, तुम नहीं जानती, हरी नहीं जानता और मैं भी नहीं जानता। सिर्फइतना याद है कि दिल भर आया था भीतर से और कातर होकर परोक्ष में तुमसे कहा था, "यह तुमने क्या किया, सुरबाला !"

किसी दिन मैं तुम्हारा कोई न था, आज भी वही स्थिति नहीं है क्या? यदि कोई मुझसे पूछ ही बैठे, "सुरबाला तुम्हारी कौन है ?" तो मैं क्या उत्तर दूंगा भला ? कभी भूलकर भी तुम मुझसे आज तक एक शब्द नहीं बोली हो, न मैं ही कभी तुमसे कुछ कह पाया हूं।

हरी ने किसी प्रसंग में अभी-अभी मुझसे पूछा, "तुम सुरबाला से बोलते क्यों नहीं हो ?" मैं बात टाल गया। पर मैं तुमसे पूछता हूं, क्या सचमुच कोई ऐसी स्थिति आ गई है कि बिना आमने-सामने बैठे, बिना बोले, खुलकर बात किए बिना गुजारा न हो ? क्या तुम बहुत इच्छुक हो, अधीर हो मेरे मुंह से अपने लिए कोई संबोधन सुनने को?

सुधा की शादी हो चुकी है। पिछली मरतबा वह मायके आयी, तो मुझसे भी मिली। मुझे बहुत प्यार करती है, पर तुमसे जाने कित्ता मोह है उसे। बराबर तुम्हारी ही चर्चा करती रही। दुख मानती रही। तारीफ करती रही। दुआ मनाती रही तुम्हारे लिए। मुझे बहुत भला लग रहा था, तो भी रोक कर पूछा, "तुमने बी.ए. कर लिया कि नहीं ?"

"कर लिया, डियर," तपाक से बोली, गोद के शिशु को आगे करके..."यह देखो सर्टिफिकेट।"

मैंने हंसते-हंसते ही पूछा, "अब एम.ए. भी करोगी न ?"

"जरूर करूंगी", उसने निःसंकोच कहा, "लेकिन पी-एच-डी. करने का इरादा मेरा नहीं है। हम दो ... हमारे दो ... देखा है न पोस्टरों पर लिखा ? अब जरा अपनी भी बतला, बी.ए. कैसे कर पाई तू, सो भी सेकेंड डिविजन में ? कमाल कर दिया भाई।"

मैंने कहा, "तुम तो जानती हो, मेरे पिता की जरा-सी तनख्वाह है। मां हमेशा दमे से परेशान रहती है। बी. ए. कर पाना मेरे वश का था क्या ? राम-राम करके फीस माफ हुई, तो किताबों की चिंता, किताबें मिल गयीं, तो पढ़ने की चिंता, परीक्षा की चिंता। परीक्षा दे ली, तो पास होने की चिंता। समझ ले, हाथों से समुद्र तैरी। पर भगवान बराबर साथ रहे। भगवान ने ही सहारा दिया, दया हुई उनकी, बी.ए. करवा दिया मुझे।"

"कौन-सा भगवान, डियर ?" सुधा के होठों पर कुटिल मुस्कान थी-एक ओर 'हरी भगवान' है, दूसरी ओर 'विष्णु भगवान्' हैं ...। "बायां कि दायां ? कौन दौड़ा था तेरी सहायता के लिए?"

"दायां!" मैंने निर्लज्ज की तरह कह दिया, "हरी को तो सर्विस मिल गई है। महीनों इधर नहीं आ पाता।"

सुधा ने प्रसन्नता और अचरज से आँखें चौड़ी करके पूछा, "सच? विष्णु भैया ने तेरे लिए इतनी भागदौड़ की ? पर वह तो ऐसा न था...कैसे क्या हुआ? जान पड़ता है, तेरी मीठी-मीठी बातों में फंस कर रह गया भोला पंछी। मैं यहां थी नहीं, तुझे मौका मिल गया। गया बेचारा काम से। कफस में बंद है बुलबुल।"

मैंने अकुला कर कहा, "ऐसा कुछ नहीं है, सुधा तुम मेरा विश्वास करो। अपने भैया का विश्वास करो। तुमसे शपथ खाकर कह रही हूं, आज तक उनसे बोली नहीं हूं।"

"कभी नहीं बोली तू ?" सुधा ने संदेह से पूछा, "तब फिर कैसे इतना संपर्कबढ़ा?"

मैंने सहज भाव से कहा, "क्या बिना बोले मन का 'कुछ' प्रकट नहीं किया जा सकता है? क्या आंखों की कोई भाषा नहीं होती है? क्या मन के अदृश्य तार संवाद नहीं भेजते, संदेश ग्रहण नहीं करते?" सुधा अपलक होकर सुनती रही।

पढ़ाई मैंने समाप्त कर दी। मेरे पुराने साथी सिद्धिनाथ श्रीवास्तव के ममेरे भाई वाइस चांसलर के पी.ए. हैं। उनकी मेहरबानी से, उन्हीं के अंडर, क्लर्कहो गया मैं। संगी-साथियों ने सुना, तो चौंके। हरी ने दुख मनाया-एम.ए. करके क्लर्कहो गया। पर मेरी परिस्थिति तो तुम जानती हो। जैसे भी हो, मुझे पैसा चाहिए। क्लर्की करना कोई अपराध नहीं है। इज्जत? गरीब आदमी की भी कोई इज्जत होती है !

रामू को पढ़ाना था, आगे बढ़ाना था। बहन की अच्छी शिक्षा-दीक्षा करनी थी। मेरी फूल-सी बहन, हमेशा मुस्कराते रहने का स्वभाव है उसका...मैं उसकी मुस्कान कभी बुझने न दूंगा। क्लर्की तो बड़ी चीज है, चपरासी बन जाऊंगा।

तुम्हें मालूम है, रामू इंटर में फर्स्ट डिविजन लाया था। कितना आत्मसंतोष मुझे

हुआ। मेडिकल में उसे भेजना चाहता था। पी.एम.टी. में बिठाया उसे। उन दिनों बेचारा बुखार में चल रहा था। बुखार में ही पूरी परीक्षा दी। पर्चे अच्छे न हुए। सिफारिश पर मुनहसिर था दाखिला। कहां से सिफारिश लाऊं इतनी तगड़ी कि साढ़े तीन हजार अभ्यर्थियों को कूदता-फाँदता ऊपर चढ़ जाए। तो भी हिम्मत करके हरी के साथ दौड़ लगायी चारों ओर। पता चला, ढाई हजार खर्च करो, तो ले लिया जायेगा मेडिकल में।

मेरे पास ढाई हजार न था। मान लो, होता मेरे पास ढाई हजार, तो क्या करता ? दे देता उन दो-तीन क्लर्कों को, जो इतना लेकर पास कराने की हामी भर रहे थे ? कहो तो, तुम्हारा क्या ख्याल है, मुझे वह रिश्वत देनी चाहिए थी ?

तुम्हें मालूम है, मैंने चुपचाप उसका दाखिला बी.एस.सी. में करा दिया। मेडिकल का सपना टूट गया।

मेरे बाबूजी की नौकरी समाप्त हो गयी। महीना-डेढ़ महीना उदास रहे। फिर बुखार आ गया। फिर घुटनों में दर्द होने लगा। फिर बाकायदा गठिया के शिकार हो गये। दिन भर चुपचाप लेटे रहते। रात भर हौले-हौले कराहते। वह कराहना मां भी सुनती, मैं भी सुनती। मन दुख में डूब जाता। नींद न आती। चुंगी दफ्तर की नौकरी में पेंशन नहीं मिलती। फंड का रुपया आ गया था। बाबूजी की बीमारी में वह रुपया धीरे-धीरे बहने लगा। अजीब संकट था। इलाज करवाओ, तो पैसे की धूल होती थी। इलाज रोक दो, तो बाबू जी की पीड़ा सही न जाती थी। कुछ दिन इलाज चलता, कुछ दिन बेचारे यों ही लेटे रहते। तुमसे किसने कहा? हरी ने ही कहा होगा। सरस्वती को अपने आँगन में खड़ा देख चकित रह गया। वह सकपकायी-सी खड़ी थी। मैंने प्यार से पुकारा, "आओ-आओ, भीतर आ जाओ", तो सकुचाकर हौले से बोली, "भैया बाहर खड़े हैं...वैद्यजी को लाए हैं।"

तब से उन्हीं वैद्यजी की चिकित्सा चल रही है। बाबूजी को बहुत आराम है। लेटे-लेटे पढ़ते हैं। मौज में आते हैं तो मां से मजाक करने लगते हैं। चिढ़ाते हैं उसे।

वैद्य को फीस किसने दी ? दवाओं के और तेल के दाम किसने चुकाए ? मां पूछती रही। मैं क्या जवाब देती भला ?

तुम्हारा आना फिर न हुआ। रविवार को अक्सर ही सरस्वती आती। हौले-से कहती, "यह पीने वाली दवा है ...। यह तेल है ...।"

नयी सर्विस, नया रंगरूट, दांव-पेंच से अनभिज्ञ मैं, युनिवर्सिटी आफिस में करीब-करीब 'महामूर्ख' सिद्ध हुआ। तब श्रीवास्तव मुझे ट्रेनिंग देने लगा। उसने इस महान शिक्षा-संस्थान के वे-वे काबिलेदीद नज्जारे दिखलाए कि मेरे पलक न गिरते थे। हैरत से मुंह बाए रह जाता था। मेरे हाल पर हंसता-मुस्कराता श्रीवास्तव मुड़िया हिला कर कहता, देख ली बरखुरदार, नूरेचश्म, राहतेजान मेरे, गुरुकुल के गुरुघंटालों का चक्कर। सच पूछो तो जिंदगी के असली लुत्फ तो यही लोग उठा रहे हैं। एक-से-एक

आला 'मक्खन की टिकिया' यहां आती है और 'गुरुचरणों में' पिघल कर रह जाती है। चांदी-ही-चांदी है इनकी। सबके ऊपर बैठा है इस पूरे एरिया का अधिपति, कुलपति, यानि वी.सी., यानि महागुरुघंटाल। इसकी तो बस, दसों घी में हैं। मैं कहता हूं, लौंडियों की बात जाने दो, लौंडियां तो अपने स्वार्थ से खुद आ गिरती हैं सालों इसके आगोश में, पैसे की बात करो भाई, तो पांच-छः लाख के करीब खोंच लिया इसने इन दो-ढाई साल में। मैं तुम्हें हिसाब बतलाऊं कुल मिलाकर चालीस लाख की बिल्डिगें बनी हैं। इनकी ठेकेदारी से अगर इसने चार लाख ले ही लिए, तो क्या बेजा किया। इसके टी. ए. बिलों का तखमीना देखा मैंने। बाप रे ! छियालीस हजार रुपये।

विश्वविद्यालय का वाइस चांसलर हो, या चुंगी का क्लर्क कुल मिलाकर देखा, तो आज सब एक ही सीढ़ी पर खड़े हैं, वही घोर स्वार्थ में डूबा मन, धूर्तता, कुटिलता, पैसा बटोरने की अदम्य लालसा, 'भलेपन' का झूठा प्रदर्शन और छिपा-छिपा गर्हित जीवन। देख कर जी घबराता है कि यह पूरा देश चलते-चलते कौन-सी पगडंडी पर आ पहुंचा है। क्या कभी हमारे देश की स्थितियां बदलेंगी ? आदमी खुद अपने को पहचानेगा, दूसरे के दुख-दर्द को जानने की चेष्टा करेगा ?

राम-राम करके पूरा साल मैंने बिताया। श्रीवास्तवजी की कृपा न होती, तो ट्रेनिंग में कभी न चुनी जाती। श्रीवास्तवजी तो समझो दुख के मारों के मसीहा हैं। सारा श्रेय उन्हीं को है, जो मैं ट्रेंड हो पायी, अध्यापिका हो पायी।

आज स्थिति यह है कि मेरे वेतन पर ही सब निर्भर है। फंड वाला रुपया कब का उड़ गया। बाबूजी कहते हैं, "सुरबाला बेटी नहीं, मेरा बेटा है ...। कमाऊ पूत है मेरा।" पर मैं कितना थक जाती हूं। रात को पस्त होकर गहरी नींद सो जाती हूं। सुबह होते ही फिर स्कूल पहुंचने की चिन्ता।

सरस्वती का अपने ही स्कूल में नाम लिखा दिया है। जाती बेला साथ ले जाती हूं। उधर से भी साथ ही लाती हूं।

इस बीच एक छोटी-सी घटना हो गयी है। सुनोगे? मेरे स्कूल के सेक्रेटरी की बड़ी पुत्रवधू अवैतनिक रूप से हिंदी पढ़ाने आती है। उसका पति कहीं विदेश गया हुआ है। घर में मन नहीं लगता खाली-खाली। बहुत जिद करके मुझे अपने साथ ले गयी। मुझसे जाने क्यों उनसियत हो गई है उसे। उसने अपने देवर से मेरा परिचय कराया। खूब स्वस्थ, सुंदर, गोरा-चिट्टा, और हंसमुख युवक है। शादी अभी नहीं की है। उदार विचारों का, सुपथगामी, लखपति बाप का प्यारा बेटा, एक बार हम तीनों ने इकट्ठे बैठकर फिल्म देखी। एक बार फिर पिकनिक पर भी गए। एक बार फिर...।

और अंत में मेरी सहेली ने, उस लड़के की भाभी ने, बड़ी प्रसन्नता से मेरे आगे प्रस्ताव रख दिया और बोली, "हमने बाबूजी से पूछ लिया है, हमें दान-दहेज, नकदी,

कुछ नहीं चाहिए। बस तुम्हारी जैसी लड़की चाहिए।" बोली, "पहले तुम 'हां' कहो, फिर तुम्हारे पिता से बात की जाए।"

मेरे कलेजे का रक्त खट-खट करके बजने लगा। मुंह से आवाज न निकल रही थी। सारा विश्व-ब्रह्मांड घूमता-सा नजर आ रहा था। पसीना आ गया मुझे।

सहेली ने हंसकर कहा, "तुम बहुत ही शर्मीली हो। मैं जानती थी, तुम्हारे ओंठ नहीं खुलेंगे। कोई बात नहीं, हम कल ही तुम्हारे पिता के पा...।"

जैसे किसी ने गरम सलाख से मेरा कलेजा दागा हो। खट-से मेरा सिर उठ गया, मानो करेंट लगा हो और बिना सोचे-विचारे अनायास ही मेरे मुंह से निकल गया, "नहीं-नहीं, किसी को मत भेजिएगा। मेरी शादी एक जगह तय हो गयी है।"

हाय, इतना घोर असत्य मेरी जुबान से कैसे निकला ! क्या हो गया था मुझे?

...देवता के वरदान की तरह श्रीवास्तव मुझे लगता है, हर कदम पर, हर परेशानी पर उसने मुझे सहारा दिया है, तुम्हारी ट्रेनिंग और फिर सर्विस उसी की कृपा का फल है। घायल की गति घायल जाने। उसने अक्सर मुझे कहा है, "बड़ी गरीबी झेली है, मैंने। बड़ी मुश्किल से जिंदा रह पाया । तुम मेरे हमसफर हो। देखो दोस्त, किसी दिन 'लार्डो' वाली कैटेगरी में पहुंच जाओ, तो मुझे पहचान जरूर लेना।'हू आर यू?' मत कह देना।"

उसने जबरदस्ती डॉक्टरेट के लिए मेरा रजिस्ट्रेशन करवा दिया है। कहता है, "पी-एच-डी पीट लो बेटा, हिस्ट्री डिपार्टमेंट में वैकैंसी होने वाली है । धक्का देकर तुम्हें आगे कर दूंगा। लेक्चरार हो जाओ एक बार, फिर रीडरी पकड़ लो और छलांग मार कर वही 'लॉर्डशिप' यानि, हैड ऑफ दि डिपार्टमेंट।" श्रीवास्तव बहुत ही प्रखर बुद्धि का व्यक्ति है। उससे कुछ छिपा पाना सहज नहीं है। तुम्हें जिस दिन उसने देखा था, ट्रेनिंग के इंटरव्यू में, उसी दिन शाम को मुझसे सीधा सवाल किया, "तुम्हारी कौन है यह लड़की? ... बहिन तो नहीं लगती?" मैंने कहा, 'नहीं।' तब श्रीवास्तव ने मेरी पीठ पर हाथ रख कर कहा था, 'देखो, अभी शादी मत करना। तुम्हारे सिर पर दो 'पहाड़' हैं। पहाड़ उतर जाएं, तो फिर इस 'फूलों की डाली' को धारण कर लेना। बुरा तो नहीं मान गए ?' मैंने कहना चाहा, "आपको मुगालता हुआ है। वह मेरी...।" क्या कहता आगे? सिर झुकाए चुप रहा।

...रामू एम.एस.सी. में फर्स्ट आ गया। कितने गौरव की बात है यह। तुम्हारी इतने सालों की तपस्या सार्थक हुई...। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। तुम्हारा सुख-दुख ही अब मेरा सुख-दुख है। तुमसे अलग अब जैसे मेरी कोई सत्ता ही नहीं रही है।

रामू अभी और आगे बढ़ेगा। डाक्टर बनेगा। किसी ऊंची पोस्ट पर नियुक्त होगा और हमारे सपने सच हो जाएंगे।

अरे हां, मैंने सुना है कि तुम्हारी बूढ़ी बुआजी मुकदमा करने अपनी ससुराल चली गयी हैं और आजकल रामू ही पूरा खाना पकाता है? सरस्वती से रोज राह में बात होती है।

मुस्कराती-मुस्कराती बोली, "छोटा भैया खूब बढ़िया खाना बना लेता है। मैं स्कूल के लिए तैयार होकर उधर से पुकारती हूँ, 'महाराज, खाना तैयार है?' इधर से छोटा भैया आवाज देता है, 'तैयार है हुजूर'। मैं शान से ऑर्डर देती हूं। 'हमारा खाना यहीं दे जाओ महाराज।' भैया कहता है, 'अभी लाया हुजूर।' 'बड़ा मजा आता है दीदी'। खिल-खिल करके हंसी वह। क्या हुआ मुझे ? चलते-चलते ही उस अबोध से कहा, 'तुम मुझसे दीदी मत कहा करो।"

"तुम दीदी नहीं हो?" उसने सरल भाव से प्रश्न किया, "तब फिर तुम्हें क्या कह कर पुकारा करूं?"

सरस्वती के इस प्रश्न का क्या उत्तर दूं, सोच नहीं पाई। यों ही कह दिया, "मुझे नाम लेकर पुकारा करो।"

"क्या नाम है तुम्हारा ? बतलाओ जरा।"

"सूर्यमुखी।"

"धत, तुम्हारा नाम तो सुरबाला है। भैया रोज कहते हैं। जब तुम आती हो न, तो भैया जरूर ऊपर से तुम्हें देख लेते हैं और फिर मुझसे कहते हैं -'सरस्वती, जाओ, तुम्हारी सुरबाला आ गयी हैं।"

सच? तुम रोज अपने होंठों से मेरा नाम उचारते हो ? हाय, कभी इन कानों से सुन न पायी तुम्हें अपना नाम पुकारते।

नौकरानी नहीं आयी। शाम को ऑफिस से घर लौटा, तो देखता हूँ रामू पूरी ताकत से रगड़-रगड़ कर बर्तन मांज रहा है और पसीना चू रहा है उसके माथे से। मुझे चोट लगी इस दृश्य से। ठीक इसी समय नीचे से सरस्वती ने पुकारा। ऊपर से झांक कर देखा, तुम दोनों के चेहरे तमतमाए हुए थे। धूप में चल कर आयीं थीं दोनों। तुम्हारे सलोने मुख पर थकान अंकित थी। सरस्वती ने चहक कर कहा, "भैया, मैं दीदी के साथ जा रही हूं। कीर्तन है। रात को वहीं रहूंगी।" मैंने इशारे से स्वीकृति दे दी और तुम दोनों आगे बढ़ गयीं।

कपड़े उतार कर खुरदरी खाट पर लेट गया हूं। स्वयं भी बहुत श्रांत-क्लांत हूं इस समय और आंखें मूंद ली हैं।

सहसा रामू की आवाज से चौंककर मैंने आँखें खोल दीं। वह पूछने लगा, "कोई सूचना तो नहीं आयी, भैया ?"

श्रीवास्तव से मैंने कितना कहा कि यहीं अपनी यूनिवर्सिटी में रजिस्ट्रेशन करा दो इसका, 'जूनियर फेलोशिप' मिल जाएगी, पी-एच. डी. कर लेगा। श्रीवास्तव अकड़

गया, "हरगिज नहीं। इस सड़ियल यूनिवर्सिटी का डॉक्टर होने से तो अच्छा है, उसे खोंचा करवा दो। तुम अहमक हो। तुम नहीं समझते, 'फॉरेन रिटर्न' की कितनी औकात हो जाती है इस देश में । और फिर यह सोचो कि वहां एक से एक आला दिमाग के विद्वान प्रोफेसरों का संग-साथ पायेगा। यहां इन लार्डों के कमरे में झाड़ू देते-देते तो उसका कचूमर ही निकल जाएगा। विदेश जाने दो उसे। ... जिंदगी बन जायेगी।"

जोड़-तोड़ करके श्रीवास्तव ने कनाडा की 'शोध-छात्रवृत्ति' के लिए रामू से अप्लाई करा दिया है। कहता है-"चिंता मत करो। मंजूरी आ कर रहेगी। देर है, अंधेर नहीं।"

मैंने लेटे-लेटे ही रामू से कह दिया," नहीं भाई, कोई सूचना नहीं आयी है ..."

बहुत दिनों के उपरान्त हरी आया है। उसी के द्वारा 'शुभ समाचार' सुन पायी हूं। कनाडा से स्वीकृति आ गयी है। सारा प्रबंध हो गया है। रामू की यात्रा के लिए। बहुत-बहुत आह्लादित हुई सुन कर। बहुत-बहुत संतोष हुआ। महीनों से हम इसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। "कब जाएगा रामू?" मैंने भारी प्रसन्नता से पूछा।

"इसी रविवार को" हरी ने जल्दी-जल्दी कहा, आनंदातिरेक से, "प्लेन में उसकी सीट रिजर्व हो गयी है। और सुन, बाबूजी और मां आज ही अकबरपुर जा रहे हैं। जाड़ों तक अपने पास रखूंगा इन्हें, ऊपर वाले दोनों कमरे खाली हो जाएंगे। एक में विष्णु रहेगा और एक में तू रहेगी सरस्वती को ले कर । और देख, विष्णु का खाना-पीना अब तेरे ही चौके में होगा। "

सुख और दुख दोनों साथ-साथ आएं, तो कैसी विचित्र अनुभूति होती है।

वह रविवार कितनी जल्दी आ गया बात कहते।

हम सब रामू को विदा देने एरोड्रोम तक गए थे। एनाउंस हो गया और यात्री धीरे-धीरे एरोप्लेन की ओर सरकने लगे, तो तार की बाड़ के इस पार उदास खड़े हम अपने रामू को आँखें भरकर देखने लगे। अभी-अभी वह इन आँखों से ओझल हो जाएगा।

तुम्हारी ओर मैंने देखा, बिल्कुल शांत थे तुम। रामू ने नीचे झुककर तुम्हारे चरण छुए और रोने लगा निःशब्द, तो तुमने उसे बाँहों में भरकर कलेजे से सटा लिया।

मुझसे देखा न गया वह मोह भरा और दुख भरा आलिंगन। इधर को मुंह करके रुदन रोकने का व्यर्थ प्रयास करती रही। मुझे नहीं मालूम हरी से, श्रीवास्तव और अपनी प्यारी बहिन से रामू ने कैसे विदा ली।

और वह धीरे-धीरे कदम बढ़ाता, रुमाल से अपनी आँखें पोंछता मेरे आगे आया और बिल्कुल सहज भाव से मेरे पैरों पर झुक गया। हाय, मैं उसे रोक न पायी और उसने मेरे धूल से सने पैरों को छू कर अंगुलियां अपने माथे से लगा लीं। मेरे रुदन का बांध टूट-फूट गया। और गीली पलकें लिए वह मेरे आगे दोनों हाथ जोड़कर रुद्ध कंठ से

बोला, "भैया का ख्याल रखिएगा, और कोई नहीं है उनकी सुधि लेने वाला। ध्यान रखिएगा कभी रात को भूखे ही न सो जाएं।"

मैंने विह्वल हो कर उसके दोनों हाथ पकड़ लिए। आंसुओं ने दृष्टि धुंधली कर दी थी। कंठ अवरुद्ध था। नहीं, कुछ नहीं कह सकी। आश्वासन नहीं दे पायी उसे। और वह चला गया। एरोप्लेन की ओर, हाथ जोड़ता।

...बरसात की अँधेरी शाम उतर आई है। छत पर चारों ओर पूरे जतन से तुम्हारा वाला कमरा ठीक कर दिया है। बिस्तर लगा दिया है। लाइट जला दी और इस कमरे में बैठी प्रतीक्षा कर रही हूं तुम्हारी। दोनों कमरे आमने-सामने हैं, बीच में खुली छत। बैठी-बैठी यही देख रही हूँ।

सरस्वती पलंग पर लेटी उनींदी हो रही है। उसे बातों में लगाये हूं, सो न जाए कहीं। अभी तुम्हें भोजन कराना है। यह सो गई, तो फिर कैसे क्या कर पाऊंगी भला?

...हरी की गाड़ी शायद लेट हो गई थी। तुम कमरे में आए, तो सारा आकाश घटाओं से घिर उठा था और छोटी-छोटी बूंदे गिरनी शुरू हो गई थीं। मैंने सरस्वती को झकझोरा..."भैया आ गए तुम्हारे। जाओ तो, कहो, खाना ला रहे हैं।"

दोनो हाथों से आँखें मलती वह किसी तरह तुम्हारे कमरे तक गई और लौट आई फौरन और पलंग पर लुढ़ककर बोली... "नहीं खाएगा वह, उसे भूख नहीं है।"

सरस्वती सो गयी गहरी नींद। क्या करूं मैं? आज पहली ही रात को तुम भूखे सोओगे। जाने कितनी देर चौखट पकड़े खड़ी मन-ही-मन अकुलाती रही। सिर के नीचे दोनों हथेलियां रखे तुम नयन मूंदे लेटे थे। दूध का गिलास लिए खड़ी रही घड़ी भर तुम्हारा प्रसुप्त मुख निहारती। कब तक यों खड़ी रहूंगी।

तब सारी शक्ति लगा कर जीवन में पहली बार तुम्हें संबोधित करके बोली मैं, कांपते कंठ से ... "दूध पी लीजिए।"

तुमने फौरन पलक खोल दिए। मेरी ओर देखा। शांत स्नेहिल स्वर में बोले, "रख दो। पी लूंगा। सरस्वती सो गई क्या?"

मैंने गिलास मेज पर रखते कहा, "हां, सो गई है।" तुम उठकर बैठ गए अब। मेरा काम समाप्त हो गया है न? चल दी मैं शिथिल गति लिए डगमग पैरों से । मुश्किल से दो-तीन कदम रखे होंगे मेंह से भीगती खुली छत पर कि तुमने पीछे से पुकारा, "सुरबाला!" गहरे अपनत्व में डूबा, अति प्रिय, अति मधुर तुम्हारा प्रथम संबोधन सुन पाई मैं। जीवन सार्थक हो गया जैसे। मैं पलटकर फिर तुम्हारे सामने आ पहुंची। तब झरझर करके तेजी से मेंह गिरने लगा था।

तुमने मेरी आँखों में आँखें डालकर प्यार भरी टोन में कहा, "बड़ी ठंडी हवा चल रही है आज। सरस्वती को चादर उढ़ा देना।" मैंने कुछ न कहा, सिर डाले चल दी, तो तुमने फिर टोका, "सुनो, यह तौलिया डाल लो सिर पर। भीगो मत। सर्दी हो जाएगी।"

सरस्वती को चादर उढ़ा दी है और खुद इस खिड़की में आ बैठी हूं, सलाखों के इस पार। तुम्हारा गीला-गीला तौलिया, जिसमें तुम्हारे तन की सुरभि है, छाती पर लपेट लिया है। कितना सुखद स्पर्श है। नहीं, आज की रात सोऊंगी नहीं। बस, यों ही खिड़की में बैठी रहूंगी और सोचती रहूंगी रामू की बातें, हरी की बातें, चाचा-चाची की बातें और सोचने को जब कुछ न रहेगा, तो फिर आसमान पर छाई घटाओं को देखती रहूंगी। तुम्हारे कमरे की ओर निहारती रहूंगी चुपचाप। यहां से सब स्पष्ट दीख रहा है न! नहीं, आज की रात सोऊंगी नहीं।

उपहार

शिवप्रसाद सिंह

गुलाबी को गर्व है कि वह गाँव के छोटे-मोटे गृहस्थ का काम नहीं करती। वह संग-साथ की लड़कियों से अपने ठाकुर की बड़ाई करते नहीं थकती। ठाकुर की उम्र पचास से कम क्या होगी। सुरती और पान से सारे दांत काले पड़ गये हैं। चेहरे पर जैसे रोब बरसता है। सारे इलाके की पंचायत यहीं बैठती है। अब तो ठाकुर सरपंच भी हैं। बड़े-बड़े हाकिम, दरोगा, डिप्टी तक हाथ मिलाते हैं। अभी उस दिन की बात है कि गाँव की एक लड़की पर जगेसर साहु के बड़े लड़के ने आँख उठा दी। ठाकुर ने बीच चौराहे बीस कोड़े लगवाये। गुलाबी का पूरा शरीर खिल उठा। उसके ठाकुर के जीते किसी की मजाल क्या जो किसी पर आँख उठा सके।

अब ठाकुर का शरीर थोड़ा हिल रहा है। उनके आग-से दहकते शरीर पर साँवली राखी-सी झुर्रियां पड़ गई हैं। फिर भी साफा कितना चटक बांधते हैं। पंचों के बीच जब बोलने लगते हैं तब सब की बोलती बन्द हो जाती है।

गुलाबी बड़े गर्व से इधर-उधर घूमती। उसे विश्वास है कि ठाकुर की छाया सदैव उसकी रक्षा करती है। रामनवमी का मेला, शिवजी का मन्दिर, बड़ा तालाब सब उनका जस बखानते हैं। यह उन्हीं का प्रताप है कि गाँव में सब खुशी-खुशी खा-पी रहे हैं।

"कल खिचड़ी है गुलाबी!" हंसते हुए ठाकुर ने कहा। उनकी सफेद मूछों के नीचे मासूम बच्चे की-सी हंसी खेल उठी, "सुनो गुलाबी, भगवान कसम मैं तुमको अपने से भी अधिक चाहता हूँ।" गुलाबी सूप से धान हिलोर रही थी। उसके हाथ कुछ धीमे पड़े। ठाकुर चुपके-चुपके उसके पास आकर बैठ गये।

"कल खिचड़ी है गुलाबी !" ठाकुर ने फिर कहा, "तुम्हें क्या चाहिए। कल मेला लगेगा।" गुलाबी चुप थी। उसने बड़े चुपके से सहमते हुए ठाकुर के चेहरे की ओर देखा। अभी उसे कल की सब बातें याद थीं। हरिनाचक के दीना मुसहर ने ठाकुर के बगीचे से कुछ सूखी लकड़ियां तोड़ लीं। चरवाहे ने खबर की। मुसहर बुलाया गया। ठाकुर ने बिना पूछेताछे दीना के काले गाल पर जो तड़ाक से थप्पड़ मारा तो उसकी आँखों से चिनगारी निकल गई।

गुलाबी ने सहमकर देखा जाड़े से कुछ हल्के स्याह रंग के सूखे होंठ औसत से ज्यादा खिंच गये थे। छोटी-छोटी आँखों में बड़ी चिकनी चमक थी, उसने धीरे से गर्दन झुका ली। धान हिलोरना शुरू कर दिया।

"रहने भी दो," ठाकुर ने जल्दी से गुलाबी की ठंड से सिकुड़ी अँगुलियाँ पकड़ लीं। सूप एक ओर गिर गया। ठाकुर की आँखें तेज हो गईं, "गुलाबी, तुमने कुछ कहा नहीं।" ठाकुर का पूरा शरीर मन की मरोड़-सा गुरचने लगा। हाथ और भी कड़े हो गए। उन्होंने गुलाबी के हाथ को खींचते हुए कहा,"गुलाबी !" साँसें टकरायीं।

गुलाबी सहमी, "ठाकुर तुम्हें जरा भी शर्म नहीं! हाय भगवान्, दुनिया क्या कहेगी!" वह उठ खड़ी हुई।

"तुमने कुछ कहा नहीं गुलाबी !" ठाकुर ने अपनी असंतुलित अवस्था पर उपकार और कृपा की झीनी चादर फैलाकर कहा, "कुछ भी तो कहो।"

"आप राजा दइव हैं मालिक ! मैं क्या कहूँ !" ठाकुर ने कुछ कहा नहीं। चुपके से उसकी ओर देखा और फिर उस बखार वाले घर से बाहर हो गये। गुलाबी फिर अपनी जगह बैठकर धान हिलोरने लगी।

गुलाबी विधवा है। चमरौटी में झोंपड़ियों से घिरा एक आँगन है। बीच में श्रीफल का एक पेड़।

गुलाबी की माँ धनिया चमाइन को कोई न था, एक ही लड़की थी। बूढ़ी ने जिंदगी भर कटिया-पिसिया कर कुछ पैसे जोड़े और फिर उससे दाल-चावल का जुगाड़ किया। एक दिन बाजे-गाजे के बीच बूढ़ी ने बच्ची के नन्हें हाथ को उससे भी अधिक मासूम हाथ में सौंपकर सन्तोष की सांस ली। दिन बीते, जर्जर कन्धे से जवान लड़की का भार उतार बूढ़ी ने आखिरी साँस ली और उधर हल्दी के रंग के छूटने के पहले बरसाती नदी में अनजाने मिले तिनके सा सहारा छूट गया। गुलाबी रो-धोकर विधवा बनी।

ठाकुर का चरवाहा बच्चन बड़ा हंसोड़ है। हाँ, तो झोपड़ियों से घिरा आँगन है और ठीक बीच में श्रीफल का पेड़। उस दिन प्रदोष था। ठकुरानी व्रती थी। चरवाहे ने श्रीफल की डाल झुकाकर पत्ते तोड़ते हुए कहा, "कहो गुलाबी, अच्छी तो हो?"

गुलाबी चुप थी।

बच्चन बोला, "कहो गुलाबी, इस श्रीफल में पत्ते ही लगते हैं या फल भी?"

गुलाबी फिर चुप थी।

बच्चन बोला, "आजकल बड़ी उल्टी हवा चल रही है गुलाबी।"

गुलाबी चौंकी, "कैसी हवा?"

"अब क्या बताऊं। न बताना ही ठीक है।"

"कुछ कहो भी तो," गुलाबी उत्सुकता से उठ खड़ी हुई, "कैसी हवा चली है? मटर

पर पाले तो नहीं पड़े। कैसी हवा चली है?"

"बड़ी खराब, कुछ न पूछो। सभी लड़कियां गूंगी-सी हो रही हैं।"

गुलाबी मुस्कराई, "और मर्द?"

"वे सब बकवासी। हाँ गुलाबी, तुमने बताया नहीं।"

"क्या ?"

"यही कि इस श्रीफल में पत्ते ही लगते हैं या फल भी ?"

"फल भी लगते हैं जी, पर तुमसे मतलब ?"

"मतलब कुछ नहीं, पूछना चाहता था पत्ते ही तोड़ने का हुकुम है या फल भी ।"

गुलाबी हँसी। उसकी आँखों के सामने सफेद सलाइयों वाला चिकना सूप था और उसमें हलरता हुआ धान जिसका सुर धीरे-धीरे गर्मी देने लगा था। जाड़े से ठंडी फुर्तीली पलकें धीरे-धीरे झुकने लगीं।

तभी आँगन में शोर हुआ। गुलाबी धान हिलोरना छोड़कर बाहर आई। आज ठाकुर ने फिर अपनी पत्नी को मारा। गुलाबी को बड़ा दुख लगा। यह सच है कि ऊँची दीवालों को पार कर ठकुरानी के रोने का स्वर गलियों तक नहीं जा पाता; क्योंकि वह रोती नहीं सिसकती हैं।

'ठाकुर है बड़ा कसाई,' गुलाबी ने मन-ही-मन कहा, 'रंगा सियार है। दुनिया भर का फैसला करता है और खुद पाप में हाथ डालता है। राम-राम, ऐसी सीता-सी औरत पर कैसे हाथ उठाता है!'

उसी समय दालान से ठाकुर निकले। पूरा चेहरा शराबी के मुँह-सा विकृत हो गया था। गुलाबी ने देखा और डरकर बखार वाले घर में जाकर धान हिलोरने लगी।

आज खिचड़ी है। रात बड़े जोर का पानी बरसा। आधी रात के बाद से कुहरा पड़ रहा है। घना कुहरा है, हाथ को हाथ नहीं दिखाई पड़ता। गाँव के उत्तरी छोर पर रेलवे लाइन है। गाड़ियां धीरे चलती हैं। स्टेशन के पास पटाखे लगे हैं। छूटते ही गाड़ी रुकने लगती है। सिगनल तो दिखायी पड़ते नहीं। पुल के पास बरगद का पेड़ है। पूरा सिवान गुमसुम खामोश है, जैसे किसी ने बड़े से कूचे से सब पर चूना फेर दिया हो।

"बड़ा ठंडा है गुलाबी। न हो तुम लौट जाओ।" बरगद के पेड़ से टप-टप बूंदें चूती हैं। ऊपर जैसे घना धुँआं फैल रहा हो। खिचड़ी के दिन, पहले-पहले कच्ची मटर कटती है।

बच्चन बोला, "मैं ही दो बोझ बाँधकर रख आऊँगा, तुम लौट जाओ।"

"जाड़ा कहाँ है, कुहरा तो फैला है।" गुलाबी बोली, "न हो थोड़ा पुआल बाँध लो। वहीं ताप लेंगे।"

बच्चन ने पुआल बाँधे, दोनों चल पड़े।

"आज खिचड़ी है गुलाबी", बच्चन बोला, "जल्दी से मटर रखकर हम भी मेला

चलेंगे। आज ठाकुर पैसे देंगे। बोलो तुम्हें क्या चाहिए ?"

गुलाबी मुस्कराई, "ठाकुर के पैसे पर क्या बोलना।"

बच्चन का चेहरा उतर गया।

"ठीक कहती हो गुलाबी !" बच्चन गुमसुम कुछ सोचने लगा। गुलाबी को उसकी चुप्पी बड़ी बुरी लगी। बोली, "चुप क्यों हो गये? क्या सोच रहे हो ?"

"मेरा मन कहता है गुलाबी कि ठाकुर की नौकरी छोड़ दूँ। पहाड़-सा काम, धौंस ऊपर से। और फिर पैसे भी तो नहीं मिलते। बिना पैसे वालों को कोई पूछता नहीं। मन कहता है कलकत्ता भाग जाऊँ भैया के पास।" बच्चन ने बड़ी कातर दृष्टि से देखा। गुलाबी ने आँखें नीचे कर लीं।

"नहीं-नहीं, ऐसा मत करना।" गुलाबी चंचल हो उठी, "पैसे की जरूरत ही क्या है। सुना वहाँ तो लोग भूखों मरते हैं। यहां खाने को तो मिल ही जाता है। मैंने तो यों ही कह दिया। मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।" वह अपराधी-सी बच्चन की ओर देख कर बोली, "नहीं जाओगे न ?"

बच्चन उसके पास आ गया। गुलाबी ने जोर से उसका हाथ पकड़ लिया। "नहीं जाऊँगा गुलाबी ।"

"नहीं मुझे छूकर कसम खाओ। नहीं जाओगे न !"

बच्चन ने उसका ठिठुरता हाथ पकड़ लिया। टप-टप दो बूंदें चू पड़ीं दोंनों हाथों पर।

"तुम रोती हो गुलाबी, मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जा सकता।"

खिचड़ी बीते आज चार रोज हो गए। सुबह है। ठाकुर को न जाने क्यों चीजें बदली नजर आती हैं। उनका मोटा तगड़ा घोड़ा कुछ पतला लगा। बच्चन सामने हाथ जोड़कर खड़ा है।

"सुनो बच्चन !" ठाकुर ने गर्दन हिलाकर होंठ चबाते हुए कहा, "भई रियायत इतनी ही है। रुपये सब आज चुका दो। और जल्दी गाँव छोड़ दो। तुम्हारी यहाँ कोई जरूरत नहीं।"

"मालिक," बच्चन गिड़गिड़ाया, "आज रुपये कौन देगा सरकार !"

"कुछ नहीं।" ठाकुर चुप हो गये।

खूंटी से अपना कोड़ा उतारा। बिना पूछे-ताछे सड़-सड़। बच्चन चिल्लाया, "सरकार, आप माई-बाप हैं।"

"तुम अपने को क्या समझ रखे हो। और आँखें लड़ाओ।" सट्-सट् कोड़े तड़के। गली से दौड़कर कुछ लोग पास आये। पर सब ठिठककर खड़े हो गए।

"जाने दो दादा। हो गया।" रग्घू चौधरी बोले, "जा रे बच्चन, काम कर।"

"देखो चौधरी, तुम ही," ठाकुर के होंठ हिले, "अपना हजार रूपये का घोड़ा मैंने इस पर छोड़ा। दाना गायब। भूसा गायब। आखिर जानवर हम से कहेगा तो नहीं कि वह भूखा है। मेरा सारा रुपया इसने पानी में डुबा दिया।"

"गलती है इसकी।" चौधरी बोले, "अबे नमक खाता है मालिक का। ईमानदार बन।"

बच्चन सिर झुकाए सभी अपराध सुनता रहा। "चल जा सामने से," ठाकुर बिगड़े। नीचे मुंह किए अपने घावों को हाथ से छिपाने का असफल प्रयत्न करता बच्चन चला गया।

शाम हो गई थी। कुहरे और बादलों से ढके आसमान की कालिमा गहरी होकर गाँव की मुंडेरों, छतों और झोंपड़ियों पर फैलने लगी थी। बड़ी सर्द हवा चल रही थी। बच्चन अपने बदन के घावों के दर्द से व्याकुल था, पर उसने मुँह से उफ् तक नहीं की। चुपचाप फटे हुए कुर्ते से उन्हें छिपाए हुए गाँव की गलियों से चला जा रहा था। उसके मन में बार-बार एक हूक-सी उठती थी। चौधरी ने कहा कि मालिक का नमक खाता है तो ईमानदार बन। उसने अपनी जिंदगी के अट्ठारह साल ठाकुर की नौकरी में बिता दिए, कभी उसकी ईमानदारी पर सन्देह नहीं किया गया। उसकी माँ भी ठाकुर का काम करती थी और जब वह महज चार साल का लड़का था, उसे ठाकुर की भैंसों की देख-रेख का काम सौंपा गया। वह दिन भर भैंसों के साथ सिवान, खेतों, झाड़ियों पोखरियों का चक्कर लगाता, दो बजे के करीब उन्हें नहला-धुलाकर जब वह अपनी माँ के पास पहुँचता तो बाजरे का भात, पानीदार दाल, कभी बेझरे की मोटी जली रोटियां, कभी दो मुट्ठी मकई के दानों के अलावा कुछ दूसरा न मिलता। ठाकुर के घर में घुसने में उसे डर लगता। एक साल ही हुआ था इस तरह कि उसकी माँ मरी। और तब वह बालिग मान लिया गया। चौबीसों घंटे का नौकर। ठाकुर की गोशाला में चरनी पर अक्सर नंगे, कभी तेज सर्दी के दिनों में पुआल पर सो जाना पड़ता। इस तरह करके उसने जिंदगी के बारह साल बिता दिए। दो साल से वह घोड़े का साईस है। इन तमाम वर्षों में उसे जो भी कहा गया हो, काहिल, कामचोर, कुम्भकर्ण, पेटू, आदि-आदि पर उसे आज तक किसी ने चोर और बेईमान नहीं कहा-क्यों आज ही वह ऐसा हो गया? यदि बिना चोरी किए चोर कहा जाता है, तो वह पहले ही क्यों नहीं कहा गया? तभी उसे याद पड़ी गुलाबी। तो यह बात है। ठाकुर ने कहा था, और आँखें लड़ाओ। बच्चन यह सोचकर एक क्षण के लिए चुपचाप खड़ा हो गया। उसका सारा शरीर माघ की सर्द रात में पसीने से नहा गया। रोयें भरभरा गये थे। पता नहीं गुलाबी क्या चाहती है। ठाकुर से झगड़ा मोल लेकर वह गुलाबी की जिंदगी भी बर्बाद करेगा। नहीं-नहीं, इससे तो अच्छा है वह कहीं कुएँ-तालाब में डूब मरे।

वह चुपचाप दबे पाँव चमरौटी की गली से चला जा रहा था कि अँधेरे में कोई छाया हिली।

"कौन है?"

"मैं हूँ।"

"बच्चन।"

"हां, तुम यहाँ कैसे, अँधेरे में क्यों खड़ी हो ?"

"तुम्हारी राह देख रही थी, " गुलाबी का गला भरा हुआ था, "जग्गू कह रहा था कि ठाकुर ने तुम्हें बहुत मारा है...सच मारा है, क्यों मारा है उसने ?"

"कहते थे मैं चोर हूँ, बेईमान हूँ, घोड़े की रातिब चुराकर बेच देता हूँ।"

"झूठा, और कुछ नहीं कहा उसने ?"

"नहीं तो..." बच्चन भय और पीड़ा से उसकी ओर देख रहा था । "चौधरी के लड़के जग्गू ने मुझसे सब बता दिया है। असल में इस सारे झगड़े के बीच में मैं हूँ। मेरी वजह से उसने तुम्हें मारा ।" वह एक क्षण मौन रही, फिर धीरे से बोली, "लेकिन अब क्या होगा?"

"होगा क्या, चुपचाप पड़े रहेंगे, दो-चार रोज में उनका गुस्सा ठण्डा हो जाएगा, फिर काम शुरू करेंगे।"

गुलाबी कुछ न बोली। वह एक लहमे के लिए चुपचाप अंधेरे में देखती रह गई। "नहीं, यह न होगा, छोड़ दो काम उसका। आज ही, इसी रात हम गाँव छोड़कर कहीं और चले जायेंगे।"

"पागल हो गयी हो, कहाँ जायेंगे हम ?"

"कहीं भी, बेजुबान बैल की तरह चोट सहकर चुप रहना तो नहीं पड़ेगा। बैल भी मार पड़ती है तो बाँय-बाँय करते हैं। तुम तो बैल से भी गये-बीते हो।"

बच्चन और गुलाबी श्रीफल के पेड़ के नीचे चुपचाप खड़े थे। इतने ही में दरवाजे के पास से एक छाया हिली, और ठाकुर जोर से बोले, "क्यों गुलाबी, कुछ काम-धाम की सुध भी है या मोहब्बत का नाटक ही होता रहेगा ?"

"तुमसे मतलब, चले जाओ यहाँ से, हम तुम्हारे नौकर नहीं हैं।"

"जबान सँभालकर बोल कुतिया कहीं की, मारे हंटर खाल खींच लूँगा, अपने चहेते से पूछ, कैसे लगता है हंटर का घाव!"

"जाके अपनी घरवाली की खाल खींचो ठाकुर, वही दरबे में बन्द मुर्गी की तरह ओठ सिये तुम्हारा जुलुम सहेगी, काहे से कि तुम उसे चारा देते हो। अपना क्या, हाथ-पाँव चला के दो रोटी कहीं से भी कमा लेंगे। तुम्हारी धौंस सहने वाले कोई और ही होंगे, हाँ !" गुलाबी झटके के साथ मुड़ी और अपनी झोंपड़ी से कागज में लिपटा एक बण्डल उठा लायी, "यह है तुम्हारी साड़ी, यह उपहार अपनी घरवाली को दे देना।" उसने गुस्से से बण्डल ठाकुर के मुँह पर फेंक दिया, "कसाई कहीं का !" ठाकुर आश्चर्य से उसे देखते रह गये। उन्हें इत्मीनान ही नहीं हुआ कि यह सब कुछ गुलाबी कह रही है। डरी-दबी,

सिमटी रहने वाली गरीब गुलाबी। उन्होंने बंडल उठाया और चुपचाप झोंपड़े से बाहर चले गये।

श्रीफल की छाया के नीचे रह गये गुलाबी और बच्चन। बच्चन बेवकूफों की तरह उसकी ओर ताके जा रहा था।

"क्या देखते हो पागल की तरह ?"

"देख रहा हूँ कि इस श्रीफल में फल नहीं लगते, बल्कि ये अनचक्के टपक भी पड़ते हैं और आदमी खियाल से न रहा तो खोपड़ी भी फोड़ देते हैं, बाप रे।"

गुलाबी जोर से हंसी और उसने बच्चन को अपनी बाँहों में भर लिया । हंटर के घावों पर ममता से भरा यह स्पर्श मरहम की तरह शीतल लग रहा था। कुहरे से लिपटी हुई अँधेरी अपने मैले आँचल में उन्हें मासूम बच्चों की तरह छिपाकर थपकियाँ दे रही थी...

रसप्रिया

फणीश्वर नाथ रेणु

धूल में पड़े कीमती पत्थर को देखकर जौहरी की आँखों में एक नयी झलक झिलमिला गयी - अपरूप-रूप!

चरवाहा मोहना छौंड़ा को देखते ही पँचकौड़ी मिरदंगिया के मुँह से निकल पड़ा - अपरूप-रूप !

...खेतों, मैदानों, बाग-बगीचों और गाय-बैलों के बीच चरवाहा मोहना की सुन्दरता!

मिरदंगिया की क्षीण-ज्योति आँखें सजल हो गयीं।

मोहना ने मुस्कराकर पूछा, "तुम्हारी उँगली तो रसपिरिया बजाते टेढ़ी हुई है ; है न ?"

"ऐ !" बूढ़े मिरदंगिया ने चौंकते हुए कहा, "रसपिरिया?...हां...नहीं। तुमने कैसे...तुमने कहां सुना बे...?"

'बेटा' कहते-कहते वह रुक गया।...परमानपुर में उस बार एक ब्राह्मण के लड़के को उसने प्यार से 'बेटा' कह दिया था। सारे गाँव के लड़कों ने उसे घेरकर मारपीट की तैयारी की थी- 'बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा ? मारो साले बुटठे को घेरकर !...मृदंग फोड़ दो।'

मिरदंगिया ने हँसकर कहा था, 'अच्छा, इस बार माफ कर दो सरकार ! अब से आप लोगों को बाप ही कहूँगा।'

बच्चे खुश हो गये थे। एक दो-ढाई साल के नंगे बालक की ठुड्डी पकड़कर वह बोला था, 'क्यों, ठीक है न बापजी ?'

बच्चे ठठाकर हंस पड़े थे।

लेकिन इस घटना के बाद फिर कभी उसने किसी बच्चे को बेटा कहने की हिम्मत नहीं की थी। मोहना को देखकर बार-बार बेटा कहने की इच्छा होती है।

"रसपिरिया की बात किसने बतायी तुमसे?...बोलो बेटा !"

दस-बारह साल का मोहना भी जानता है, पँचकौड़ी अधपगला है।...कौन इससे पार पाये ! उसने दूर मैदान में चरते हुए अपने बैलों की ओर देखा।

मिरदंगिया कमलपुर के बाबू लोगों के यहां जा रहा था। कमलपुर के नन्दूबाबू के घराने में अब भी मिरदंगिया को चार मीठी बातें सुनने को मिल जाती हैं। एक-दो जून भोजन तो बंधा हुआ है ही; कभी-कभी रसचरचा भी यहीं आकर सुनता है वह । दो साल के बाद वह इस इलाके में आया है। दुनिया बहुत जल्दी-जल्दी बदल रही है।...आज सुबह शोभा मिसर के छोटे लड़के ने तो साफ-साफ कह दिया, 'तुम जी रहे हो या थेथरई कर रहे हो मिरदंगिया?'

हां, यह जीना भी कोई जीना है! निर्लज्जता है; और थेथरई की भी सीमा होती है।...पन्द्रह साल से वह गले में मृदंग लटकाकर गाँव-गाँव घूमता है, भीख मांगता है।...दाहिने हाथ की टेढ़ी उँगली मृदंग पर बैठती ही नहीं है, मृदंग क्या बजायेगा ! अब तो, 'धा तिंग धा तिंग' भी बड़ी मुश्किल से बजाता है। ...अतिरिक्त गाँजा-भाँग सेवन से गले की आवाज विकृत हो गयी है। किन्तु मृदंग बजाते समय विद्यापति की पदावली गाने की वह चेष्टा अवश्य करेगा।...फूटी भाथी से जैसी आवाज निकलती है, वैसी ही आवाज-सों-य, सों-य !

पन्द्रह-बीस साल पहले तक विद्यापति नाम की थोड़ी पूछ हो जाती थी। शादी-ब्याह, यज्ञ-उपनैन, मुण्डन-छेदन आदि शुभ कार्यों में विदपतिया मंडली की बुलाहट होती थी। पँचकौड़ी मिरदंगिया की मंडली ने सहरसा और पूर्णिया जिले में काफ़ी यश कमाया है। पँचकौड़ी मिरदंगिया को कौन नहीं जानता ! सभी जानते हैं, वह अधपगला है !...गाँव के बड़े-बूढ़े कहते हैं- 'अरे, पँचकौड़ी मिरदंगिया का भी एक जमाना था !'

इस जमाने में मोहना-जैसा लड़का भी है-सुन्दर, सलोना और सुरीला!...रसप्रिया गाने का आग्रह करता है, "एक रसपिरिया गाओ न मिरदंगिया !"

"रसपिरिया सुनोगे ?...अच्छा सुनाऊँगा। पहले बताओ, किसने..."

"हे-ए-ए-हे-ए...मोहना, बैल भागे...!" एक चरवाहा चिल्लाया, "रे मोहना, पीठ की चमड़ी उधेड़ेगा करमू !"

"अरे बाप !" मोहना भागा।

कल ही करमू ने उसे बुरी तरह पीटा है। दोनो बैलों को हरे-हरे पाट के पौधों की महक खींच ले जाती है बार-बार।...खटमिट्ठा पाट !

पँचकौड़ी ने पुकारकर कहा, "मैं यहीं पेड़ की छाया में बैठता हूँ। तुम बैल हाँककर लौटो। रसपिरिया नहीं सुनोगे ?"

मोहना जा रहा था। उसने उलटकर देखा भी नहीं।

रसप्रिया !

विदापत नाचवाले रसप्रिया गाते थे। सहरसा के जोगेन्दर झा ने एक बार विद्यापति के बारह पदों की एक पुस्तिका छपायी थी। मेले में खूब बिक्री हुई थी रसप्रिया पोथी की। विदापत नाचवालों ने गा-गाकर जनप्रिया बना दिया था रसप्रिया को।

खेत के ' आल ' पर झरजामुन की छाया में पँचकौड़ी मिरदंगिया बैठा हुआ है; मोहना की राह देख रहा है।...जेठ की चढ़ती दोपहरी में खेतों में काम करनेवाले भी अब गीत नहीं गाते हैं।...कुछ दिनों के बाद कोयल भी कूकना भूल जायेगी क्या ? ऐसी दोपहरी में चुपचाप कैसे काम किया जाता है ! पाँच साल पहले तक लोगों के दिल में हुलास बाकी था।...पहली वर्षा में भीगी हुई धरती के हरे-भरे पौधों से एक खास किस्म की गन्ध निकलती है। तपती दोपहरी में मोम की तरह गल उठती थी -रस की डाली। वे गाने लगते थे बिरहा, चाँचर, लगनी। खेतों में काम करते हुए गाने वाले गीत भी समय-असमय का ख्याल करके गाए जाते हैं। रिमझिम वर्षा में बारहमासा, चिलचिलाती धूप में बिरहा, चाँचर और लगनी-

' हाँ...रे, हल जोते हलवाहा भैया रे...

खुरपी रे चलावे...म-ज-दू-र !

एहि पन्थे,धनि मोरा ए रूसलि... '

खेतों में काम करते हलवाहों और मजदूरों से कोई बिरहि पूछ रहा है, कातर स्वर में - उसकी रूठी हुई धनि को इस राह से जाते देखा है किसी ने ?...

अब तो दोपहरी नीरस कटती है, मानो किसी के पास एक शब्द भी नहीं रह गया है।

आसमान में चक्कर काटते हुए चील ने टिंहकारी भरी-टिं...ई...टिं-हि-क !

मिरदंगिया ने गाली दी, "शैतान !"

उसको छोड़कर मोहना दूर भाग गया है। वह आतुर होकर प्रतीक्षा कर रहा है। जी करता है, दौड़कर उसके पास चला जाए। दूर चरते हुए मवेशियों के झुण्डों की ओर बार-बार वह बेकार देखने की चेष्टा करता है। सब धुंधला !

उसने अपनी झोली टटोलकर देखा-आम हैं, मूढ़ी है।...उसे भूख लगी। मोहना के सूखे मुँह की याद आयी और भूख मिट गयी।

मोहना जैसे सुन्दर, सुशील लड़कों की खोज में ही उसकी जिंदगी के अधिकांश दिन बीते हैं।...विदापत नाच में नाचने वाले ' नटुआ ' का अनुसन्धान खेल नहीं।...सवर्णों के घर में नहीं, छोटी जाति के लोगों के यहाँ मोहना जैसे लड़की मुँहा लड़के हमेशा पैदा नहीं होते। ये अवतार लेते हैं समय-समय पर जदा जदा हि...

मैथिल ब्राह्मणों, कायस्थों और राजपूतों के यहाँ विदापतवालों की बड़ी इज्जत होती थी।...अपनी बोली-मिथिलाम-में नटुआ के मुंह से 'जनम अवधि हम रूप निहारल' सुनकर वे निहाल हो जाते थे। इसलिए हर मण्डली का 'मूलगैननटुआ की खोज में गाँव-

गाँव भटकता फिरता था-ऐसा लड़का, जिसे सजा-धजाकर नाच में उतारते ही दर्शकों में एक फुसफुसाहट फैल जाए।

"ठीक ब्राह्मणी की तरह लगता है। है न ?"

"मधुकान्त ठाकुर की बेटी की तरह...।"

"नः ! छोटी चम्पा जैसी सूरत है !"

पँचकौड़ी गुनी आदमी है। दूसरी-दूसरी मण्डली में मूलगैन और मिरदंगिया की अपनी-अपनी जगह होती। पँचकौड़ी मूलगैन भी था और मिरदंगिया भी । गले में मृदंग लटकाकर बजाते हुए वह गाता था, नाचता था। एक सप्ताह में ही नया लड़का भाँवरी देकर परवेश में उतरने योग्य नाच सीख लेता था।

नाच और गाना सिखाने में कभी उसे कठिनाई नहीं हुई; मृदंग के स्पष्ट ' बोल ' पर लड़कों के पाँव स्वयं ही थिरकने लगते थे। लड़कों के जिद्दी माँ-बाप से निबटना मुश्किल व्यापार होता था। विशुद्ध मैथिली में और भी शहद लपेटकर वह फुसलाता...

"किसन कन्हैया भी नाचते थे। नाच तो एक गुण है।...अरे, जाचक कहो या दसदुआरी। चोरी, डकैती और आवारागर्दी से अच्छा है । अपना-अपना 'गुन' दिखाकर लोगों को रिझाकर गुजारा करना।"

एक बार उसे लड़के की चोरी भी करनी पड़ी थी।...बहुत पुरानी बात है। इतनी मार लगी थी कि...बहुत पुरानी बात है।

पुरानी ही सही, बात तो ठीक है।

"रसप्रिया बजाते समय तुम्हारी उँगली टेढ़ी हुई थी। ठीक है न?"

मोहना न जाने कब लौट आया।

मिरदंगिया के चेहरे पर चमक लौट आयी। वह मोहना की ओर टकटकी लगाकर देखने लगा...यह गुणवान मर रहा है। धीरे-धीरे, तिल-तिल कर वह खो रहा है। लाल-लाल होठों पर बीड़ी की कालिख लग गयी है। पेट में तिल्ली है जरूर !...

मिरदंगिया वैद्य भी है। एक झुण्ड बच्चों का बाप धीरे-धीरे एक पारिवारिक डाक्टर की योग्यता हासिल कर लेता है।...उत्सवों के बासी-टटका भोज्यात्रों की प्रतिक्रिया कभी-कभी बहुत बुरी होती । मिरदंगिया अपने साथ नमक-सुलेमानी, चानमार-पाचन और कुनैन की गोली हमेशा रखता था।...लड़कों को सदा गरम पानी के साथ हल्दी की बुकनी खिलाता। पीपल, काली मिर्च, अदरक वगैरह को घी में भूनकर शहद के साथ सुबह शाम चटाता।...गरम पानी !

पोटली से मुढ़ी और आम निकालते हुए मिरदंगिया बोला, "हाँ, गरम पानी ! तेरी तिल्ली बढ़ गयी है, गरम पानी पियो !"

"यह तुमने कैसे जान लिया ? फारबिसगंज के डागडरबाबू भी कह रहे थे, तिल्ली बढ़ गयी है दवा...।"

आगे कहने की जरूरत नहीं। मिरदंगिया जानता है, मोहना जैसे लड़कों के पेट की तिल्ली चिता पर ही गलती है ! क्या होगा पूछ कर, कि दवा क्यों नहीं करवाते !

"माँ भी कहती है, हल्दी की बुकनी के साथ रोज गरम पानी। तिल्ली गल जायेगी।"

मिरदंगिया ने मुस्कराकर कहा, "बड़ी सयानी है तुम्हारी माँ!"

केले के सूखे पत्तल पर मुढ़ी और आम रखकर उसने बड़े प्यार से कहा, "आओ, एक मुट्ठी खा लो।"

"नहीं मुझे भूख नहीं।"

किन्तु मोहना की आँखों से रह-रहकर कोई झांकता था, मुढ़ी और आम को एक साथ निगल जाना चाहता था।...भूखा, बीमार, भगवान !

"आयो, खा लो बेटा !...रसप्रिया नहीं सुनोगे?"

माँ के सिवा, आज तक किसी अन्य व्यक्ति ने मोहना को इस तरह प्यार से कभी परोसे भोजन पर नहीं बुलाया।...लेकिन, दूसरे चरवाहे देख लें तो माँ से कह देंगे।...भीख का अन्न !

"नहीं, मुझे भूख नहीं।"

मिरदंगिया अप्रतिभ हो जाता है। उसकी आँखें फिर सजल हो जाती हैं। मिरदंगिया ने मोहना जैसे दर्जनों सुकुमार बालकों की सेवा की है। अपने बच्चों को भी शायद वह इतना प्यार नहीं दे सकता।...और अपना बच्चा ! हुँ !...अपना-पराया ? अब तो सब अपने, सब पराये।...

"मोहना !"

"कोई देख लेगा तो ?"

"तो क्या होगा ?"

"माँ से कह देगा। तुम भीख माँगते हो न ?"

"कौन भीख माँगता है ?" मिरदंगिया के आत्म-सम्मान को इस भोले लड़के ने बेवजह ठेस लगा दी। उसके मन की झाँपी में कुण्डलीमार सोया हुआ साँप फन फैलाकर फुंफकार उठा, "ए-स्साला ! मारेंगे वह तमाचा कि..."

"ऐ ! गाली क्यों देते हो !" मोहना ने डरते-डरते प्रतिवाद किया।

वह उठ खड़ा हुआ, पागलों का क्या विश्वास !

आसमान में उड़ती हुई चील ने फिर टिंहकारी भरी ... टिं हीं ... ई ... टिं-टिं-ग!

"मोहना !" मिरदंगिया की आवाज गम्भीर हो गयी।

मोहना जरा दूर जाकर खड़ा हो गया।

"किसने कहा तुमसे कि मैं भीख मांगता हूँ? मिरदंग बजाकर, पदावली गाकर,

लोगों को रिझाकर पेट पालता हूँ।...तुम ठीक कहते हो, भीख का ही अन्न है यह। भीख का ही फल है यह। ...मैं नहीं दूँगा। ...तुम बैठो, मैं रसप्रिया सुना दूँ।"

मिरदंगिया का चेहरा धीरे-धीरे विकृत हो रहा है।...आसमान में उड़ने वाली चील अब पेड़ की डाली पर आ बैठी है।...टिं-टिं-हिं टिं टि क !

मोहना डर गया। एक डग, दो डग...दे दौड़। वह भागा।

एक बीघा दूर जाकर उसने चिल्लाकर कहा, "डायन ने बान मारकर तुम्हारी उँगली टेढ़ी कर दी है। झूठ क्यों कहते हो कि रसप्रिया बजाते समय..."

"ऐं ! कौन है यह लड़का ? कौन है यह मोहना ?...रमपतिया भी कहती थी, डायन ने बान मार दिया है।"

"मोहना !"

मोहना ने जाते-जाते चिल्लाकर कहा, "करैला !" अच्छा, तो मोहना यह भी जानता है कि मिरदंगिया ' करैला ' कहने से चिढ़ता है !...कौन है यह मोहना ?

मिरदंगिया आतंकित हो गया। उसके मन में एक अज्ञात भय समा गया। वह थर-थर काँपने लगा। उसमें कमलपुर के बाबुओं के यहाँ जाने का उत्साह भी नहीं रहा।...सुबह शोभा मिसर के लड़के ने ठीक ही कहा था।

उसकी आँखों में आँसू झरने लगे।

जाते-जाते मोहना डंक मार गया। उसके अधिकांश शिष्यों ने ऐसा ही व्यवहार किया है उसके साथ। नाच सीखकर फुर्र से उड़ जाने का बहाना खोजने वाले एक-एक लड़के की बातें उसे याद हैं।

सोनमा ने तो गाली ही दी थी, 'गुरुगिरी करता है, चोट्टा !'

रमपतिया आकाश की ओर हाथ उठाकर बोली थी, 'हे दिनकर ! साच्छी रहना। मिरदंगिया ने फुसलाकर मेरा सर्वनाश किया है। मेरे मन में कभी चोर नहीं था। हे सुरुज भगवान ! इस दसदुआरी कुत्ते का अंग-अंग फूटकर...।'

मिरदंगिया ने अपनी टेढ़ी उँगली को हिलाते हुए एक लम्बी साँस ली। ...रमपतिया? जोधन गुरुजी की बेटी रमपतिया ! जिस दिन वह पहले-पहल जोधन की मण्डली में शामिल हुआ था-रमपतिया बारहवें में पांव रख रही थी।...बाल-विधवा रमपतिया पदों का अर्थ समझने लगी थी। काम करते-करते वह गुनगुनाती- 'नव अनुरागिनी राधा, किछु नंहि मानय बाधा। '...मिरदंगिया मूलमैनी सीखने गया था और गुरुजी ने उसे मृदंग धरा दिया था...आठ वर्ष तक तालीम पाने के बाद जब गुरुजी ने स्वजात पँचकौड़ी से रमपतिया के चुमौना की बात चलायी तो मिरदंगिया सभी ताल-मात्रा भूल गया। जोधन गुरुजी से उसने अपनी जात छिपा रखी थी। रमपतिया से उसने झूठा परेम किया था। गुरुजी की मण्डली छोड़कर वह रातों-रात भाग गया। उसने गाँव आकर अपनी मण्डली बनायी, लड़कों को सिखाया-पढ़ाया और कमाने-खाने

लगा।...लेकिन, वह मूलगैन नहीं हो सका कभी। मिरदंगिया ही रहा सब दिन।...जोधन गुरुजी की मृत्यु के बाद, एक बार गुलाब-बाग मेले में रमपतिया से उसकी भेंट हुई थी। रमपतिया उसी से मिलने आयी थी। पँचकौड़ी ने साफ जवाब दे दिया था, 'क्या झूठ-फरेब जोड़ने आयी है? कमलपुर के नन्दूबाबू के पास क्यों नहीं जाती, मुझे उल्लू बनाने आयी है। नन्दूबाबू का घोड़ा बारह बजे रात को ...।' चीख उठी थी रमपतिया-'पाँचू! ... चुप रहो!'

उसी रात रसपिरिया बजाते समय उसकी उँगली टेढ़ी हो गई थी । मृदंग पर जमनिका देकर वह परवेस का ताल बजाने लगा। नटुआ ने डेढ़ मात्रा बेताल होकर प्रवेश किया तो उसका माथा ठनका। परवेस के बाद उसने नटुआ को झिड़की दी, 'एस्साला ! थप्पड़ों से गाल लाल कर दूँगा। '...और रसपिरिया की पहली कड़ी ही टूट गयी। मिरदंगिया ने ताल को सम्हालने की बहुत चेष्टा की। मृदंग की सूखी चमड़ी जी उठी, दाहिने पूरे पर लावा-फरही फूटने लगे और ताल कटते-कटते उसकी उँगली टेढ़ी हो गयी। झूठी टेढ़ी उँगली! ... हमेशा के लिए पँचकौड़ी की मण्डली टूट गयी। धीरे-धीरे इलाके से विद्यापति-नाच ही उठ गया। अब तो कोई विद्यापति की चर्चा भी नहीं करता है।... धूप-पानी से परे, पँचकौड़ी का शरीर ठण्डी महफिली में ही पनपा था ... बेकार जिंदगी में मृदंग ने बड़ा काम दिया। बेकारी का एकमात्र सहारा-मृदंग !

एक युग से वह गले में मृदंग लटकाकर भीख मांग रहा है-धा-तिंग, धा-तिंग !

वह एक आम उठाकर चूसने लगा-लेकिन, लेकिन, ... लेकिन ... मोहना को डायन की बात कैसे मालूम हुई? उँगली टेढ़ी होने की खबर सुनकर रमपतिया दौड़ी आई थी, घण्टों उँगली को पकड़ कर रोती रही थी-' हे दिनकर, किसने इतनी बड़ी दुश्मनी की? उसका बुरा हो।... मेरी बात लौटा दो भगवान ! गुस्से में कही हुई बातें। नहीं,नहीं। पाँचू, मैंने कुछ भी नहीं किया है। जरूर किसी डायन ने बान मार दिया है। '

मिरदंगिया ने आँखें पोंछते हुए ढलते हुए सूरज की ओर देखा।... इस मृदंग को कलेजे से सटाकर रमपतिया ने कितनी रातें काटी हैं ! ... मिरदंग को उसने अपनी छाती से लगा लिया।

पेड़ की डाली पर बैठी हुई चील ने उड़ते हुए जोड़े से कुछ कहा-टिं-टिं-हिंक् !

"एस्साला !" उसने चील को गाली दी। तम्बाकू चुनियाकर मुँह में डाल दी और मृदंग के पूरे पर उँगलियां नचाने लगा-धिरिनागी, धिरिनागि, धिरिनागि-धिनता !

पूरी जमनिका वह नहीं बजा सका। बीच में ही ताल टूट गया।

-अ-कि-हे-ए-ए-हा-आआ-ह-हा !

सामने झरबेरी के जंगल के उस पार किसी ने सुरीली आवाज में, बड़े समारोह के साथ रसप्रिया की पदावली उठायीः

"न-व-वृन्दा-वन, न-व-न-व-तरु-ग-न, न-व-नव विकसित फूल..."

मिरदंगिया के सारे शरीर में एक लहर दौड़ गयी। उसकी उँगलियां स्वयं ही मृदंग के पूरे पर थिरकने लगीं। गाय-बैलों के झुण्ड दोपहर की उतरती छाया में आकर जमा होने लगे।

खेतों में काम करने वालों ने कहा, " पागल है। जहाँ जी चाहा, बैठकर बजाने लगता है।"

"बहुत दिन के बाद लौटा है।"

"हम तो समझते थे कि कहीं मर-खप गया।"

रसप्रिया की सुरीली रागिनी ताल पर आकर कट गयी। मिरदंगिया का पागलपन अचानक बढ़ गया। वह उठकर दौड़ा। झरबेरी की झाड़ी के उस पार कौन है? कौन है यह शुद्ध रसप्रिया गानेवाला?...इस जमाने में रसप्रिया का रसिक...? झाड़ी में छिपकर मिरदंगिया ने देखा, मोहना तन्मय होकर दूसरे पद की तैयारी कर रहा है। गुनगुनाहट बन्द करके उसने गले को साफ किया। मोहना के गले में राधा आकर बैठ गयी है !...क्या बन्दिश है !

"न-दी-वह नयनक नी...र !

आहो...पललि बहए ताहि ती...र !"

मोहना बेसुध होकर गा रहा था। मृदंग के बोल पर वह झूम-झूमकर गा रहा था। मिरदंगिया की आँखें उसे एकटक निहार रही थीं और उसकी उँगलियां फिरकी की तरह नाचने को व्याकुल हो रही थीं।...चालीस वर्ष का अधपगला युगों के बाद भावावेश में नाचने लगा।... रह-रहकर वह अपनी विकृत आवाज में पदों की कड़ी धरता-फोंय-फोंय, सोंय-सोंय !

धिरिनागि-धिनता!

"दुहु रस ... म ... य तनु-गुने नहीं ओर।

लागल दुहुक न भाँगय जो-र।"

मोहना के आधे काले और आधे लाल होंठों पर नयी मुस्कराहट दौड़ गयी। पद समाप्त करते हुए वह बोला, "इस्स ! टेढ़ी उँगली पर भी इतनी तेजी ?"

मोहना हाँफने लगा। उसकी छाती की हड्डियां !

... उफ ! मिरदंगिया धम्म से जमीन पर बैठ गया, "कमाल ! कमाल !... किससे सीखे ? कहाँ सीखी तुमने पदावली ? कौन हैं तुम्हारा गुरु ?"

मोहना ने हँसकर जवाब दिया, "सीखूंगा कहाँ ? माँ तो रोज गाती है।... प्रातकी मुझे बहुत याद है, लेकिन अभी तो उसका समय नहीं।"

"हां बेटा ! बेताले के साथ कभी मत गाना-बजाना। जो कुछ भी है, सब चला जायेगा।... समय-कुसमय का भी ख्याल रखना। लो, अब आम खा लो।"

मोहना बेझिझक आम लेकर चूसने लगा।

"एक और लो।"

मोहना ने तीन आम खाये और मिरदंगिया के विशेष आग्रह पर दो मुट्ठी मुढ़ी भी फाँक गया।

"अच्छा, अब एक बात बताओगे मोहना ! तुम्हारे माँ-बाप क्या करते हैं?"

"बाप नहीं है, अकेली माँ है। बाबू-लोगों के घर कुटाई-पिसाई करती है।"

"और तुम नौकरी करते हो ! किसके यहाँ?"

"कमलपुर के नन्दूबाबू के यहाँ।"

"नन्दूबाबू के यहाँ?"

मोहना ने बताया, उसका घर सहरसा में है। तीसरे साल सारा गाँव कोसी मैया के पेट में चला गया। उसकी माँ उसे लेकर अपने ममहर आयी है ... कमलपुर।

"कमलपुर में तुम्हारी माँ के मामू रहते हैं?"

मिरदंगिया कुछ देर तक चुपचाप सूर्य की ओर देखता रहा।...नन्दूबाबू-मोहना-मोहना की माँ!

"डायनवाली बात तुम्हारी माँ कह रही थी ?"

"हाँ।"

"और एक बार सामदेव झा के यहाँ जनेऊ में तुमने गिरधर-पट्टी मण्डली वालों का मिरदंग छीन लिया था।... बेताला बजा रहा था। ठीक है न?"

मिरदंगिया की खिचड़ी दाढ़ी मानो सफेद हो गयी। उसने अपने को सम्हालकर पूछा,"तुम्हारे बाप का क्या नाम है?"

"अजोधादास !"

"अजोधादास ?"

बूढ़ा अजोधादास, जिसके मुँह में न बोल, न आँख में लोर।... मण्डली में गठरी ढोता था। बिना पैसे का नौकर बेचारा अजोधादास !

"बड़ी सयानी है तुम्हारी माँ।" एक लम्बी सांस लेकर मिरदंगिया ने अपनी झोली से एक छोटा बटुआ निकाला। लाल-पीले कपड़ों के टुकड़ों को खोलकर कागज की एक पुड़िया निकाली उसने ।

मोहना ने पहचान लिया, "लोट? क्या है, लोट?"

"हां, नोट है।"

"कितने रूपयेवाला है ? पँचटकिया। ऐं ... दसटकिया? जरा छूने दोगे? कहाँ से लाए?" मोहना एक ही साँस में सब कुछ पूछ गया, " सब दसटकिया हैं?"

"हाँ, सब मिलाकर चालीस रुपये हैं।" मिरदंगिया ने एक बार इधर-उधर निगाहें दौड़ायीं; फिर फुसफुसाकर बोला, "मोहना बेटा ! फारबिसगंज के डागडरबाबू को

देकर बढ़िया दवा लिखा लेना। ... खट्टा-मिट्ठा परहेज करना।... गरम पानी जरूर पीना।"

"रुपये मुझे क्यों देते हो?"

"जल्दी रख ले, कोई देख लेगा।"

मोहना ने एक बार चारों ओर नजर दौड़ायी। उसके होठों की कालिख और गहरी हो गयी।

मिरदंगिया बोला, "बीड़ी-तम्बाकू भी पीते हो ? खबरदार !"

वह उठ खड़ा हुआ।

"अच्छी तरह गाँठ बाँध ले। माँ से कुछ मत कहना।"

मोहना ने रूपये ले लिये।

"और हाँ, यह भीख का पैसा नहीं। बेटा, यह मेरी कमाई के पैसे हैं, अपनी कमाई के... ।"

मिरदंगिया ने जाने के लिए पाँव बढ़ाया।

"मेरी मां खेत में घास काट रही है। चलो न !" मोहना ने आग्रह किया।

मिरदंगिया रुक गया। कुछ सोचकर बोला, "नहीं मोहना ! तुम्हारे जैसा गुणवान बेटा पाकर तुम्हारी माँ 'महारानी' है, मैं महाभिखारी दस-दुआरी हूँ। जाचक, फकीर ...! दवा से जो पैसे बचें, उसका दूध पीना।"

मोहना की बड़ी-बड़ी आँखें कमलपुर के नन्दूबाबू की आँखों-जैसी हैं .... ।

"रे मो-ह-ना-रे-हे ! बैल कहाँ हैं रे ?"

"तुम्हारी माँ पुकार रही है शायद।"

"हाँ। तुमने कैसे जान लिया?"

"रे-मोहना-रे-हे !"

एक गाय ने सुर-में-सुर मिलाकर अपने बछड़े को बुलाया।

गाय-बैलों के घर लौटने का समय हो गया । मोहना जानता है, माँ बैल हाँककर ला रही होगी। झूठ-मूठ उसे बुला रही है। वह चुप रहा।

"जाओ।" मिरदंगिया ने कहा, "माँ बुला रही है। जाओ।... अब से मैं पदावली नहीं, रसपिरिया नहीं, निरगुन गाऊँगा। देखो मेरी उँगली शायद सीधी हो रही है। शुद्ध रसपिरिया कौन गा सकता है आजकल ?..."

"अरे, चलू मन, चलू मन-ससुरार जईवे हो रामा,
कि आहो रामा,
नैहिरा में अगिया लगायब रे-की ... ।"

खेतों की पगडण्डी, झरबेरी के जंगल के बीच होकर जाती है। निरगुन गाता हुआ मिरदंगिया झरबेरी की झाड़ियों में छिप गया।

"ले। यहाँ अकेला खड़ा होकर क्या करता है? कौन बजा रहा था मृदंग रे?" घास का बोझा सिर पर लेकर मोहना की माँ खड़ी है।

"पँचकौड़ी मिरदंगिया।"

"ऐं, वह आया है ? आया है वह?" उसकी माँ ने बोझ जमीन पर पटकते हुए पूछा।

"मैंने उसके ताल पर रसपिरिया गाया है। कहता था, इतना शुद्ध रसपिरिया कौन गा सकता है आजकल !... उसकी उँगली अब ठीक हो जायेगी।"

माँ ने बीमार मोहना को आह्लाद से अपनी छाती से सटा लिया।

"लेकिन तू तो हमेशा उसकी टोकरी-भर शिकायत करती थी-बेईमान है, गुरु दरोही है, झूठा है !"

"है तो ! वैसे लोगों की संगत ठीक नहीं। खबरदार, जो उसके साथ फिर कभी गया ! दसदुआरी जाचकों से हेलमेल करके अपना ही नुकसान होता है।... चल, उठा बोझ !"

मोहना ने बोझ उठाते समय कहा, " जो भी हो, गुनी आदमी के साथ रसप्रिया ...।"

"चौप ! रसप्रिया का नाम मत ले।"

अजीब है माँ ! जब गुस्सायेगी तो बाघिन की तरह और जब खुश होती है तो गाय की तरह हुँकारती आयेगी और छाती से लगा लेगी। तुरंत खुश, तुरंत नाराज।...

दूर से मृदंग की आवाज आयी - धा-तिंग, धा-तिंग !

मोहना की माँ खेत की मेड़ पर बैठ गयी। जेठ की शाम से पहले जो पुरवैया चलती है, धीरे-धीरे तेज हो गयी।... मिट्टी की सोंधी सुगन्ध हवा में धीरे-धीरे घुलने लगी।

धा-तिंग, धा-तिंग !

"मिरदंगिया और कुछ बोलता था, बेटा ?" मोहना की माँ आगे कुछ न बोल सकी।

"कहता था, तुम्हारे-जैसा गुणवान बेटा ..."

"झूठा, बेईमान !" मोहना की माँ आँसू पोंछकर बोली, "ऐसे लोगों की संगत कभी मत करना।"

मोहना चुपचाप खड़ा रहा। पेड़ की डाली पर बैठी हुई चील ने उड़ते हुए जोड़े से कुछ कहा-टिं-टिं-हिंक् !

आत्मकथन

लक्ष्मीनारायण लाल

दोनों की वह पहली दीवाली की रात थी। वह खड़ा चुपचाप देख रहा था, उसकी पत्नी सोलहों श्रृंगार किये घर, आँगन, बरामदा, चौका-चूल्हा यहां तक कि कबाड़खाने वाले कमरे में भी दीपक रखती चली जा रही थी।

छोटे देवर और दो कुँवारी ननदें छत की मुंडेर पर चारों ओर किनारे-किनारे मोमबत्तियां जला कर सजा चुकी थीं।

ससुरजी पिछले तीन दिनों से अब तक घर नहीं लौटे थे। कयथाना टोले में परमात्माप्रसाद रायजादा के घर जुआ खेलने में लगे थे।

बरामदे से अचानक सासूजी ने टोका, "बहू, घूँघट में रहो ! आज दीवाली की रा. है।"

"तो क्या हुआ माँजी?"

"आने-जाने वाले लोग तुम्हें घूर-घूर कर देख रहे हैं।"

"तो क्या हुआ?"

यह कहकर वह घर-आँगन, छत, बरामदे और पिछवाड़े घूम-घूम कर जलते हुए चिरागों और फैलती हुई रोशनियों को देखने लगी ।

ननदें आ-आकर कह जातीं, "भाभी, आज घूँघट उठा दिया है। कितनी सुन्दर लग रही हो!"

वह आँगन पार कर बाहर बरामदे में गयी। बरामदे से सीधे अपने कमरे में गयी। खूब सजा हुआ था कमरा।

वह पलंग।

जैसे असली सुहागरात आज ही हो।

धीरे से वह कमरे में आया। पीछे से उसके कन्धों पर हाथ रखते हुए बोला, "थोड़ा घूँघट कर लो न, माँ बहुत बुरा मान रही है।"

वह तपाक से बोली "मेरे खानदान की परम्परा है, ससुराल में पहली दीवाली की रात कोई किसी तरह का परदा नहीं किया जाता।"

वह उसका मुँह देखता रह गया।

आँगन से माँ की आवाज सुनाई दी, "यह हमारे घर की चलन नहीं है। बहू को बहू की तरह रहना होगा !"

उसने अपने माथे पर थोड़ा-सा आँचल खींच लिया। सासूजी के सामने हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई। सासूजी ने दुआएं दीं। वह खिलखिलाती हुई अपने कमरे में भागी। कमरे को भीतर से बन्द कर लिया। खिड़कियां परदों से ढक दीं। और उसके गले में बाँहें डाल कर वह बोली, "अब बताओ, आज की रात तुम्हारे यहाँ और क्या होता है?"

वह घबरा कर बोला, "विनीता तुम मेरी पत्नी हो !"

वह हंसने लगी, "यह भी कोई कहने की बात है।"

"मैं तुम्हारा पति हूँ।"

अब वह ठहाका मार कर हँस पड़ी। वह घबरा कर बोला, "पिता जी जुआ खेलते हैं-फ्लाश-दीवाली के तीन दिन से पहले से और दीवाली के तीन दिन बाद तक।"

"माँजी क्या करती हैं?"

"कुछ नहीं।"

एक हल्की-सी चुप्पी छा गयी

वह अलमारी की ओर बढ़ी। नये डिब्बे में से शराब की बोतल निकाल कर पलंग पर रख दी। पलंग के नीचे से पानी की बोतल, बर्फभरा बड़ा-सा कटोरा, तली हुई कलेजी, कटी हुई प्याज और कबाब की टिकियाँ सब चीजें एक-एक कर सजा दीं।

उसे पलंग पर खींचते हुए बोली, "लो, पियो ! खाओ ! खूब...!"

विश्वनाथ आश्चर्यचकित था। विनीता कमरे से बाहर जाने लगी।

"विनीता!"

"क्या?"

"यह सब क्या है?"

"जो है...!"

"कहां जा रही हो?"

"सबको रसोई में खाना परोस कर आती हूँ।" और वह तेजी से चली गयी।

उसी के हाथों बाहर से दरवाजा फिर बन्द हो गया।

वह कमरे में लौटी। देखकर बच्चों की तरह हँसने लगी। वह बुत-सा पलंग पर चुपचाप बैठा था।

"तुमने अब तक बोतल भी नहीं खोली?" यह कह कर उसने व्हिस्की की बोतल को एक ही मरोड़ में खोल दिया।

"दोनो गिलासों में बनाओ।"

"विनीता...!"

"हम दोनों साथ पियेंगे। यह मेरे यहाँ की रस्म है।"

"पर इस घर की नहीं है।"

"हम कायस्थ हैं...तुम रायजादा, सक्सेना, मैं श्रीवास्तव।"

"तुम्हारे यहाँ शराब पी जाती है?"

"बिलकुल।"

"औरतें भी पीती हैं?"

"क्यों नहीं?"

"लड़कियां भी ? तुम भी?"

इस बीच अपने हाथों से दोनों गिलास बिलकुल तैयार कर एक गिलास उसके हाथों में देकर बोली, "होली-दीवाली की रात हमारे यहाँ इसी तरह शराब पी जाती है। चियर्स...।"

दोंनों ने एक ही साँस में अपने-अपने गिलास खाली कर दिए।

वह बोली, "पहली दीवाली को हम झूठ बिलकुल नहीं बोलते।"

"हम भी नहीं बोलते।"

"सच?"

"बिल्कुल सच।"

दोनों मजे से खाने-पीने लगे। कमरे के दो चिराग मद्धम होने लगे ।वह उठकर उनमें तेल डाल आई। लौ तेज हो गयी।

वह गिलास खाली करते हुए बोला, "इससे पहले तूने क्यों नहीं बताया?"

"मैं सिर्फ होली और दीवाली की रात पीती हूँ।"

"कब से ?"

"आज से...इसी दीवाली से !"

"तुम तो कहती थीं..."

"हाँ-हाँ, सब पीते थे, सिर्फ मैं ही नहीं पीती थी।"

"फिर आज क्यों ?"

विनीता चुपचाप अपना दूसरा गिलास पीने लगी।

"धीरे-धीरे पियो ।"

"मालूम है ।"

"बस, पहली बार इससे ज्यादा नहीं पीते।"

"एक बात बताओ।"

"पूछो।"

"आज रात झूठ नहीं बोलोगे ?"

"नहीं ।"

"इसकी कसम खाओ।"

"कसम..."

कमरे में चुप्पी छा गयी। जलते हुए चिरागों की लौ रह-रह कर काँप उठती।

विनीता ने पूछा, "आदमी को विवाह से ऊपर किसी और सम्बन्ध की भूख होती है?"

"होती है।"

"क्या ?"

"भूख ही नहीं, उसका मोह भी होता है !"

"वह कौन है ?"

उसने गिलास में शराब डालते हुए कहा, "एक सवाल तुमने पूछा, मैंने जवाब दिया। अब एक सवाल मैं पूछूँ?"

"हाँ, बेशक।"

"तुमने आज पहली बार इस तरह क्यों पी?"

वह मुस्कराती हुई बोली, "सवाल को तोड़ो नहीं, पूरा पूछो। इस तरह तुम आज मेरे साथ पहली बार क्यों पी रही हो?"

"ठीक, क्यों पी रही हो ?"

उसने गिलास को अपने निचले ओठ पर टिका लिया और गिलास के भीतर से उसे निहारने लगी। धीरे-धीरे गिलास खाली हो गया। वह बोली, "इसीलिए कि तुम सिर्फ दीवाली की रात को ही उसके साथ पीते हो। पिछले तीन वर्षों से । और आज इस समय वह तुम्हारे फोटो को अपने सामने रख कर अकेली पी रही होगी।"

विश्वनाथ को विनीता ने जैसे पलंग से उलट कर जमीन पर दे मारा हो। उसका सारा चेहरा सुर्ख हो गया। पलंग से उठते हुए उसने पूछा, "यह सच है, पर तुम्हें कैसे पता?"

"उसने खुद बताया।"

"कब ? कैसे ?"

"जिस दिन तुम मुझे ब्याह कर यहाँ ले आए, वह मुझे देखने आयी थी। फिर तुम उसे अपने साथ लेकर पिछवाड़े के कबाड़खाने वाले कमरे में गये थे। वहाँ तुमने उसे प्यार किया और वचन दिया, 'कुमुद, मैं जब तक जिंदा रहूंगा, तुमसे प्यार करूंगा।' वह रोती रही । तुम उसके आँसू पोंछते रहे। वह जब फिर मेरे पास लौटी, तब उसकी आँखें बेतरह सूजी हुई थीं। सूखी थीं, वह बेहाल थी। उसने मुझे सब कुछ बता दिया। वह..."

विश्वनाथ ने गुस्से में कहा, "वह लड़की बदमाश है ! झूठी है ! हमारे जीवन को नष्ट करना चाहती है ! वह आवारा है ! चरित्रहीन है ! उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।"

विनीता ने उसे पकड़ कर पलंग पर लिटा लिया। उसे प्यार करने लगी। अपने हाथ से उसे कबाब खिलाने लगी।

नया गिलास बना कर पहला घूँट खुद पिया, फिर उसके होंठों पर लगा दिया।

पलंग पर औंधे लेट कर वह कहने लगा, "हाँ, उससे मेरा प्यार था। उसके घर के सारे लोग दीवाली की रात जुआ खेलते रहते और हम दोंनों उसके घर के पीछे कबाड़खाने वाले कमरे में रात भर शराब पीते। वह बहुत अच्छी थी...निहायत नेक। उसका प्यार बिल्कुल सच्चा था।"

वह उसके मुँह के पास अपने होंठ ले जाकर बोली, "और अब वह झूठी हो गई? आवारा, चरित्रहीन हो गयी?"

"हाँ।"

"क्यों ? कैसे ?"

"क्योंकि मेरा प्यार उससे झूठा था।"

विनीता हंसने लगी। वह चुपचाप उसका मुँह निहारने लगा। वह कहने लगी, "सुनो यार, प्यार भी कभी झूठा होता है ?"

वह फिर गंभीर होकर बोला, "फिर वह कायर क्यों बनाता है ?"

"किसे ?"

"मुझे।"

दोनों गिलासों को भरकर वह हवा में टकराने लगी। एक उसके हाथ में देकर बोली, "सच बोलो, तुमने कुमुद को मेरे सामने इतनी भद्दी गालियाँ क्यों दीं?"

"बता दूँ ?"

"कह डालो।"

"तुम्हारी नजरों में ऊँचा उठ जाने के लिए।"

"अगर तुम इससे मेरी नजरों में और नीचे गिर गए हो, तो ?"

वह एकाएक तड़पा, "मैंने झूठ कहा था। कुमुद बहुत नेक, शरीफ, चरित्रवान लड़की है। मैं उससे प्यार करता था।"

"झूठ। अब भी झूठ।"

"हाँ अब भी झूठ...मैं उससे प्यार करता हूँ, पर मैंने शादी तुमसे की।"

विनीता चुप हो गयी। उसके हाथ का खाली गिलास पलंग पर लुढ़क गया। उसका आँचल उसकी आँखों पर आ गिरा था। उसका सारा यौवन विश्वनाथ के सामने दमक रहा था।

वह बड़े थके स्वर में बोली, "मैंने भी किसी से प्यार किया है। हम हर पूर्णमासी की रात छत पर बैठ कर शराब पीते थे। कभी अपने घर की छत पर, कभी उसके घर पर। एक दिन उसने कहा, 'मैं तुम्हें चाहता हूँ।' मैं बोली 'यह कोई कहने की बात है।' फिर वह

मेरी ओर इस तरह झपटा जैसे वह कोई पशु हो और मैं उसका शिकार हूँ। मैंने उसके मुँह पर झापड़ मारा। वह मुझे मारने लगा और मुझे नंगा करने के लिए लड़ने लगा। मैं नंगी हो गयी। फिर वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसके बाद हमारी एक-दूसरे से कभी मुलाकात नहीं हुई।"

इतना कहकर वह चुप हो गयी। अपने गिरे हुए आँचल को माथे पर रख कर बोली, "आज यह शराब मैं उसी की याद में पी रही हूँ।"

विश्वनाथ के मुँह से फूटा, "मैं भी यह शराब उस कुमुद की ही याद में पी रहा हूँ।"

कमरे के सारे चिराग एक-एक कर बुझते चले गये थे। कमरे में कब अँधेरा आया, कब सिरहाने का टेबल लैंप जला, किसी को नहीं पता।

विनीता उठी। खिड़कियों को खोल कर उन पर के परदों को किनारे खींच कर बाहर देखा, सुबह हो रही है।

बोतल में थोड़ी-सी शराब शेष थी। विश्वनाथ पलंग पर औंधा पड़ा था। विनीता ने अपनी दायीं हथेली में शराब उड़ेल ली और उसे विश्वनाथ के मुँह पर लगा दिया।

"यह क्या करती हो?"

वह बोली, "तुम मेरे पति नहीं हो, मेरे विश्वनाथ हो।"

वह अपलक उसे देखने लगा। दोनों एक दूसरे को बाँहों में भरने लगे।

उसने कहा, "सारी खिड़कियां खुली हैं।"

वह हल्के से बोली, "तो क्या..."

अचानक आँगन से माताजी के रोने की आवाज आयी। विनीता दौड़ी। वहाँ माँजी के अलावा और कोई नहीं था।

"क्या हुआ ? आज रो क्यों रही हैं ?"

माताजी दर्द से कराहती हुई रो रही थीं।

विश्वनाथ ने कहा, "पिताजी जुए में हार कर घर आये होंगे। माँ को पीट कर उसके बचाए हुए सारे रुपये लेकर चले गये हैं। अब पिताजी जरूर जीतकर लौटेंगे।"

माँ ने सिसकते हुए कहा, "ऐसा होता है इस घर में...!"

विश्वनाथ ने अचानक बात काट दी, "अब ऐसा इस घर में नहीं होगा।"

माँ ने आँसू पोंछते हुए कहा, "क्यों नहीं, वह मेरे पति हैं, वह जो चाहे कर सकते हैं।"

विश्वनाथ के मुँह से निकला, "तुम इन्सान नहीं, जानवर हो, माँ ! तुमने मुझे जन्म क्यों दिया?"

"जबान संभाल कर बोलो, हाँ, नहीं तो ! तुझे जन्म भगवान ने दिया और पति ही भगवान होता है।"

विश्वनाथ कटे पेड़ की तरह माँ के कदमों पर गिर पड़ा।

"माँ, आज सच बोल दो !"
"कैसा सच ?"
"जो भीतर सोचती हो।"
"भीतर क्या है रे... ?"
पत्थर की मूरत की तरह माँ आँगन के उस शून्य में देखती रह गयीं।

लवर्स

निर्मल वर्मा

'एल्प्स' के सामने कारीडोर में अंग्रेजी-अमरीकी पत्रिकाओं की दुकान है। सीढ़ियों के नीचे जो बित्ते-भर की जगह खाली रहती है, वहीं पर आमने-सामने दो बैंचें बिछी हैं। इन बैंचों पर सेकेन्ड हैंड किताबें, पाकेट-बुक, उपन्यास और क्रिसमस कार्ड पड़े हैं।

दिसम्बर ... पुराने साल के चंद आखिरी दिन।

नीला आकाश ... कँपकँपाती, करारी हवा। कत्थई रंग का सूट पहने एक अधेड़ किन्तु भारी डील-डौल के व्यक्ति आते हैं। दुकान के सामने खड़े होकर ऊबी निगाहों से इधर-उधर देखते हैं। उनहोंने पत्रिकाओं के ढेर के नीचे से एक जर्द, पुरानी-फटी मैगजीन उठाई है। मैगजीन के कवर पर लेटी एक अर्द्ध-नग्न गौर युवती का चित्र है। वह यह चित्र दुकान पर बैठे लड़के को दिखाते हैं और आँख मारकर हँसते हैं। लड़के को उस नंगी स्त्री में कोई दिलचस्पी नहीं है, किन्तु गाहक गाहक है, और उसे खुश करने के लिए वह भी मुस्कराता है।

कत्थई सूट वाले सज्जन मेरी ओर देखते हैं। सोचते हैं, शायद मैं भी हंसूँगा। किन्तु इस दौरान लड़का सीटी बजाने लगता है, धीरे-धीरे। लगता है, सीटी की आवाज उसके होठों से नहीं, उसकी छाती के भीतर से आ रही है। मैं दूसरी ओर देखने लगता हूँ।

मैं पिछली रात नहीं सोया और सुबह भी, जब अक्सर मुझे नींद आ जाती है, मुझे नींद नहीं आई। मुझे यहाँ आना था और मैं रात भर यही सोचता रहा कि मैं यहां आऊँगा, कारीडोर में खड़ा रहूँगा। मैं उस सड़क की ओर देख रहा हूँ, जहां से उसे आना है, जहां से वह हमेशा आती है। उस सड़क के दोनों ओर लैम्प-पोस्टों पर लाल फैस्टून लगे हैं... बाँसों पर झण्डे लगाए गए हैं। आए दिन विदेशी नेता इस सड़क से गुजरते हैं।

जब हवा चलती है, फैस्टून गुब्बारे की तरह फूल जाते हैं, आकाश झण्डों के बीच सिमट आता है...नीले लिफाफे-सा । मुझे बहुत-सी चीजें अच्छी लगती है। जब रात को मुझे नींद नहीं आती, तो मैं अक्सर एक-एक करके इन चीजों को गिनता हूँ, जो मुझे अच्छी लगती है, जैसे हवा में रंग-बिरंगे झण्डों का फरफराना, जैसे चुपचाप प्रतीक्षा करना ...

अब ये दोनों बातें हैं। मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। उसे देर नहीं हुई है। मैं खुद जानबूझकर

समय से पहले आ गया हूँ। उसे ठीक समय पर आना अच्छा लगता है, न कुछ पहले, न कुछ बाद में, इसीलिए मैं अक्सर ठीक समय से पहले आ जाता हूँ। मुझे प्रतीक्षा करना, देर तक प्रतीक्षा करते रहना अच्छा लगता है।

धीरे-धीरे समय पास सरक रहा है। एक ही जगह पर खड़े रहना, एक ही दिशा में ताकते रहना, यह शायद ठीक नहीं है। लोगों का कौतूहल जाग उठता है। मैं कारीडोर में टहलता हुआ एक बार फिर किताबों की दुकान के सामने खड़ा हो जाता हूँ। कत्थई रंग के सूटवाले सज्जन जा चुके हैं। इस बार दुकान पर कोई गाहक नहीं है। लड़का एक बार मेरी ओर ध्यान से देखता है और फिर मैली झाड़न से पत्रिकाओं पर जमी धूल पोंछने लगता है।

कवर पर धूल का एक टुकड़ा आ सिमटा है। बीच में लेटी युवती की नंगी जांघों पर धूल के कण उड़ते हैं।... लगता है वह सो रही है।

फुटपाथ पर पत्तों का शोर है। यह शोर मैंने पिछली रात को भी सुना था। पिछली रात हमारे शहर में तेज हवा चल रही थी । आज सुबह जब मैं घर की सीढ़ियों से नीचे उतरा था, तो मैंने इन पत्तों को देखा था। कल रात ये पत्ते फुटपाथ से उड़कर सीढ़ियों पर आ ठहरे होंगे। मुझे यह सोचना अच्छा लगता है कि हम दोनों एक ही शहर में रहते हैं, एक ही शहर के पत्ते अलग-अलग घरों की सीढ़ियों पर बिखर जाते हैं और जब हवा चलती है, तो उनका शोर उसके और मेरे घर के दरवाजों को एक संग खटखटाता है।

यह दिल्ली है और दिसम्बर के दिन हैं और साल के आखिरी पत्ते कारीडोर में उड़ रहे हैं। मैं कनॉट प्लेस के कारीडोर में खड़ा हूँ, खड़ा हूँ और प्रतीक्षा कर रहा हूँ। वह आती होगी।

मैं जानता था, वह दिन आयेगा, जब मैं 'एल्प्स' के सामने खड़ा होकर प्रतीक्षा करूंगा। कल शाम उसका टेलीफोन आया था। कहा था कि वह आज सुबह 'एल्प्स' के सामने मिलेगी। उसने कुछ और नहीं कहा था ... उस पत्र का कोई जिक्र नहीं किया था, जिसके लिए वह आज यहां आ रही है। मैं जानता था कि मेरे पत्र का उत्तर वह नहीं भेजेगी, वह लिख नहीं सकती। "मैं लिख नहीं सकती", एक दिन उसने कहा था। उस दिन हम दोनों हुमायूं के मकबरे गये थे। वहां वह नंगे पाँव घास पर चली थी। "मुझे नंगे पाँव घास पर चलना अच्छा लगता है", उसने कहा था। मैंने उसकी चप्पलें हाथ में पकड़ रखी थीं। उसने मना किया था। 'इट इज नाट डन' उसने अंग्रजी में कहा था। यह उसका प्रिय वाक्य है। जब कभी मैं उसे धीरे से अपने पास खींचने लगता हूँ तो वह अपने को बहुत हल्के से अलग कर लेती है और कहती है-'इट इज नॉट डन।' मैंने उसकी चप्पलों को अपने रूमाल में बांध लिया था। रूमाल का एक सिरा उसने पकड़ा था, दूसरा मैंने। हम उस रूमाल को हिला रहे थे और चप्पलें बीच हवा में ऊपर-नीचे झूलती थीं। मकबरे

के पीछे पुराना, टूटा-फूटा टैरेस था, उसके आगे रेल की लाइन थी, बहुत दूर जमुना थी, जो बहुत पास दीखती थी।

उसके नंगे, साँवले पैरों पर घास के भूरे तिनके और बजरी के दाने चिपक गए थे। मेरी ऐनक पर धूल जमा हो गई थी, लेकिन मैं रूमाल से उसको नहीं पोंछ सकता था, क्योंकि रूमाल से चप्पलें बँधी थीं और उसके पाँव अभी तक नंगे थे। तब मैंने उसकी उनाबी साड़ी के पल्ले से अपनी ऐनक के शीशे साफ किए थे। वह नीचे झुक आई थी और उसने धीरे से पूछा था, "तुम यहां पहले कभी आए थे?"

"हां अपने दोस्तों के संग।"

"क्या किया था?", उसने मेरी ओर झपकती आखों से देखा।

"दिन-भर फ्लैश खेली थी", मैंने कहा।

"और? और क्या किया था?", उसके स्वर में आग्रह था।

"शाम को बिअर पी थी, वे गर्मी के दिन थे।"

"तुम पीते हो?"

हाँ, मैंने कहा, "पीता तो हूँ।"

"किसी ने देखा नहीं?"

"नहीं, अंधेरा होने पर पी थी और जाने से पहले बोतलें नीचे फेंक दी थीं।"

"नीचे कहाँ?"

"टैरेस के नीचे।"

टैरेस के नीचे रेलवे लाइन है। जमुना है, जो बहुत दूर है और बीच में पुराने किले के खण्डहर हैं। बहुत शुरू का मौन है, और सर्दियों की धूप है, जो किले के भग्न झरोखों पर ठगी सी रह गई है।

वह शुरू दिसम्बर की शाम थी और हम हुमायूँ के मकबरे के पीछे छोटे टैरेस पर बैठे थे। बाईं ओर पुराने किले के टूटे पत्थर थे, धूप में सोते-से। सामने ऊबड़-खाबड़ मैदान था, जिसे बाढ़ के दिनों में जमुना भिगो गई थी, और जहाँ चूने-सी सफेदी बिछल आई थी। जब वापस आने लगे, तो वह सीढ़ियों पर उतरती हुई सहसा ठिठक गई।

"तुमने देखा?", उसकी आँखें कहीं पर टिकी थीं।

"उधर", हवा में उसकी निगाहों पर मेरी आँखें सिमट आई थीं।

उसने हाथ से दूर एक पक्षी की ओर संकेत किया। वह मकबरे की एक मीनार पर बैठा था। वह चुपचाप निरीह आँखों से हमें देख रहा था।

"यह नीलकण्ठ है !... तुमने कभी देखा है ?", उसने बहुत धीरे से कहा "नीलकण्ठ को देखना बड़ा शुभ माना जाता है।"

"क्या हम दोनों के लिए भी?" मैं हंसने लगा। मेरी हंसी से शायद वह डर गया और अपने पंख फैलाकर गुम्बद के परे उड़ गया था।

'क्या हम दोनों के लिए भी', यह मैंने कहा नहीं, सिर्फ सोचा था। कुछ शब्द हैं, जो मैंने आज तक नहीं कहे। पुराने सिक्कों की तरह वे जेब में पड़े रहते हैं। न उन्हें फेंक सकता हूँ, न भुला पाता हूँ।

जब वह आई, तो मैं उसके बारे में नहीं सोच रहा था। मैं क्रिकेट के बारे में, सिनेमा के पोस्टरों के बारे में और कुछ गन्दे, अश्लील शब्दों के बारे में सोच रहा था, जो कुछ देर पहले मैंने पब्लिक लेवेट्री की दीवार पर पढ़े थे। ऐसा अक्सर होता है। प्रतीक्षा करते हुए मैं उस व्यक्ति को बिल्कुल भूल जाता हूँ, जिसकी मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। सामने जो पेड़ों की कतार है, वह 'सिन्धिया हाउस' की क्रासिंग तक जाती है, और वहां ट्रैफिक-लाइट लाल से गुलाबी होती है और गुलाबी से हरी। जब वह आई तो मुझे कुछ भी पता नहीं चला था। मैं ट्रैफिक-लाइट को देख रहा था और वह मेरे पास चली आई थी-बिल्कुल पास, बिल्कुल सामने। उसने काली शाल ओढ़ रखी है और उसके बाल सूखे हैं। उसके होठों पर हल्की, बहुत ही हल्की लिपस्टिक है, जैसी वह अक्सर लगाती है।

"तुम क्या बहुत देर से खड़े हो?" उसने पूछा ।

"मैं तुमसे पहले आ गया था।"

"कब से इन्तजार कर रहे हो?"

"पिछले एक हफ्ते से", मैंने कहा।

वह हंस पड़ी, "मेरा मतलब यह नहीं था। तुम यहां कब आये थे?" मैं नहीं चाहता कि वह जाने कि मैं रात-भर जागता रहा हूँ। मैं सिर्फ यह जानना चाहता हूँ कि उसने क्या निर्णय लिया है। शायद मैं यह भी नहीं जानना चाहता। मैं सिर्फ उसे चाहता हूँ और यह मैं जानता हूँ।

हम दोनों 'एल्प्स' की तरफ बढ़ जाते हैं। दरवाजे पर खड़ा लड़का हमें सलाम करता है। वह दरवाजा खोलकर भीतर चली जाती है। मैं क्षण-भर के लिए बाहर ठिठक जाता हूँ। लड़का मुझे देखकर मुस्कराता है। वह हम दोनों को पहचानने लगा है। उसने हम दोनों को कितनी ही बार यहां एक संग आते देखा है।

'एल्प्स' के भीतर अंधेरा है, या शायद अंधेरा नहीं है, हम बाहर से आये हैं, इसीलिए सब-कुछ धुंधला-सा लगता है। बाहर दिसम्बर की मुलायम धूप है। जब कभी दरवाजा खुलता है, धूप का एक साँवला-सा घब्बा खरगोश की तरह भागता हुआ घुस आता है, और जब तक दरवाजा दोबारा बन्द नहीं होता, वह पियानो के नीचे दुबका-सा बैठा रहता है।

"आज अखबार में देखा?", उसने पूछा।

"न", मैंने सिर हिला दिया।

"शिमले में बर्फ गिरी है, तभी कल रात इतनी सर्दी थी", उसने कहा "मैं सारी खिड़कियां बन्द करके सोई थी।"

'कल रात मैं जागता रहा था', मैंने सोचा और 'बाहर सूखे पत्तों का शोर होता रहा था।' दिसम्बर के दिनों में बहुत से पत्ते गिरते हैं, रात-भर गिरते हैं।

"तुमने बर्फदेखी है, निन्दी?", उसने पूछा।

"हां, क्यों?"

"सच?", आश्चर्य से उसकी आँखें फैल गईं।

"तब मैं बहुत छोटा था।...अब तो कुछ भी याद नहीं रहा।", मैंने कहा।

"तुम अब भी छोटे लगते हो!", उसने हंसकर कहा "जब तुम फुल स्लीव का स्वेटर पहनते हो।" उसने अपना छोटा-सा पर्स पास की खाली कुर्सी पर रख दिया और अपने दोनों हाथ शाल से बाहर निकाल लिए। वह मेरे स्वैटर को देख रही है, मैं उसके हाथों को। उसके दोंनों हाथ मेज पर टिके हैं, लगता है जैसे वे उससे अलग हों। वे बहुत नर्वस हैं। आधे खुले हुए, आधे भिंचे हुए। लगता है, वे किसी अदृश्य चीज को पकड़े हुए हैं।

हम कोने में बैठे हैं, जहां वेटर ने हमें नहीं देखा है। सुबह इतनी जल्दी बहुत कम लोग यहां आते हैं। हमारे आस-पास की मेज-कुर्सियां खाली पड़ी हैं। डांसिंग फ्लोर के दोंनों लाल शेड से ढँके लैम्प जले हैं। दिन के समय इनसे अधिक रोशनी नहीं आती, जो रोशनी आती है, वह सिर्फइतनी ही कि आस-पास का अँधेरा दिख सके। कुछ फासले पर डांसिंग-फ्लोर की दाईं ओर जार्ज और उसकी फियान्सी ने मुझे देख लिया है, और मुस्कराते हुए हवा में हाथ हिलाया है। जार्ज 'एल्प्स' का पुराना ड्मर है। साढ़े दस बजे आरकेस्ट्रा का प्रोग्राम आरम्भ होगा, तब तक वह खाली है। वह जानता है, मैं आज इतनी सुबह क्यों आया हूँ। वह मुझसे बड़ा है और मेरी सब बातें ... खुली-छिपी सब बातें जानता है। उसने मुझे देखा और मुस्कराते हुए अपनी 'फियान्सी' के कानों में कुछ धीरे से फुसफुसाने लगा। वह अपना सिर मोड़कर गहरी उत्सुक आँखों से मुझे ... मुझे और उसे देख रही है। उसकी आखों में रही है में अजीब-सा कौतूहल है। यदि जार्ज उसकी बाँह को खींचकर झिंझोड़ न देता, तो शायद वह देर तक हम लोगों को देखती रहती।

मेरे एक हाथ में सिगरेट है, जिसे मैंने अभी तक नहीं जलाया। दूसरा हाथ टांगों के नीचे दबा है। मैं आगे झुककर उसे दबाता हूँ। मुझे लगता है, जब तक वह मेरे बोझ के नीचे बिल्कुल नहीं भिंच जाएगा तब तक ऐसे ही कांपता रहेगा।

वेटर आया। मैंने उसे कोना-कॉफी लाने के लिए कह दिया। वह चुप बैठी रही, कुर्सी पर रखे अपने पर्स को देखती रही ।

"मैंने सोचा था, तुम फोन करोगी", मैंने कहा।

उसने मेरी ओर देखा, उसकी आँखों में हल्का-सा विस्मय था, "तुम काफी अजीब बातें सोचते हो", उसने कहा।

"शायद यह गलत था", मैंने कहा "शायद तुम नाराज हो।"

"पता नहीं...शायद हूँ", उसने कहा।

मैं हंसने लगा।

"क्यों? तुम हंसते क्यों हो?"

"कुछ नहीं, मुझे कुछ याद आ गया।"

"क्या याद आ गया?", उसने पूछा।

"तुम्हारी बात, इट इज़ नॉट डन!"

उसका निचला होंठ धीरे से कांपा था, तितली-सा, जो उड़ने को होती है, और फिर कुछ सोचकर बैठी रहती है।

"तुम उस ठीक समय पर घर पहुँच गईं थीं?"

"किस दिन?"

"जब हम हुमायूँ के मकबरे से लौटे थे।"

"न, बस नहीं मिली। बहुत देर बाद स्कूटर लेना पड़ा।... उस रात बड़ा अजीब-सा लगा।"

"कैसा अजीब-सा?", मैंने पूछा।

"देर तक नींद नहीं आई", उसने कहा "देर तक मैं उस नीलकण्ठ के बारे में सोचती रही, जो हमने उस दिन देखा था, मकबरे के गुम्बद पर।"

नीलकण्ठ ! मुझे वह शाम याद आती है। उस शाम हम पवेलियन के पीछे टैरेस पर बैठे थे। मेरे रूमाल में उसकी चप्पलें बंधी थीं और उसके पाँव नंगे थे। घास पर चलने से वे गीले हो गए थे, उन पर बजरी के दो-चार लाल दाने चिपके रह गए थे। अब वह शाम बहुत दूर लगती है। उस शाम एक धुंधली-सी आकांक्षा आई थी और मैं डर गया था। लगता है, आज वह डर हम दोनों का है, गेंद की तरह कभी उसके पास जाता है, कभी मेरे पास। वह अपनी घबराहट को दबाने का प्रयत्न कर रही है, जिसे मैं नहीं देख रहा। मेज के नीचे कुर्सी पर भिंचा मेरा हाथ कांप रहा है, जिसे वह नहीं देख सकती। हम केवल एक-दूसरे की ओर देख सकते हैं और यह जानते हैं कि मरते वर्ष के कुछ आखिरी दिन हैं और बाहर दिसम्बर के उन पीले पत्तों का शोर है, जो दिल्ली की तमाम सड़कों पर धीरे-धीरे झर रहे हैं।

मुझे लगता है, जैसे मैं सब-कुछ कह दूँ, जो मैं पिछले हफ्ते के दौरान में, सड़क पर चलते हुए, बस की प्रतीक्षा करते हुए, रात को सोने से पहले और सोते हुए, पल-छिन सोचता रहा हूँ, अपने से कहता रहा हूँ। मैं भूला नहीं। कुछ चीजें हैं, जो हमेशा साथ रहती हैं, उन्हें याद रखना नहीं होता। कुछ चीजें हैं, जो खो जाती हैं, खो जाने में ही उनका अर्थ है, उन्हें भुलाना नहीं होता।

वेटर आया और कोना-कॉफी की बोतल से पहले उसके और फिर मेरे प्याले में

कॉफी उँडेल दी। हमारे सामने वाली मेज पर एक अंग्रेज युवती आकर बैठ गई। उसके संग एक छोटा-सा लड़का है, जो उसकी कुर्सी के पीछे खड़ा है। युवती का चेहरा मीनू के पीछे छिप गया।

"वाट विल यू हैव, सनी?"

लड़का पंजों के बल खड़ा हुआ, सिर झुकाकर मीनू देख रहा है; ऊँ ... ऊँ ... ऊँ, लड़के ने जुबान बाहर निकालकर बिल्ली की तरह नाक सिकोड़ ली।

"ओ, शट अप! वोन्ट यू सिट डाउन?"

डांसिंग-फ्लोर के पीछे जो कुर्सियां अभी तक खाली पड़ी थीं, वे धीरे-धीरे भरने लगीं। लगता है, बाहर सूरज बादलों में छिप गया है। सामने खिड़की के शीशों पर रोशनी का हल्का-सा आभास है। जब दरवाजा खुलता है, तो पहले की तरह धूप का टुकड़ा भीतर नहीं आता। सिर्फ हवा आती है, और मैली-सी धुँध। दरवाजा खुलकर एकदम बन्द नहीं होता और हम बाहर देख लेते हैं। बाहर सर्दी का धुंधलका है और दिसम्बर का मेघाच्छन्न आकाश... जो कुछ देर पहले बिलकुल नीला था।

जहां हम बैठे हैं, वह एक कोना है। जब कभी हम यहां आते हैं (और ऐसा अक्सर होता है), तो यहीं बैठते हैं। उसे कोने में बैठना अच्छा लगता है। वह चम्मच से मेजपोश पर लकीरें खींचती है और मैं अपनी उन कहानियों के बारे में सोचता हूँ, जो मैंने नहीं लिखीं, जो शायद मैं कभी नहीं लिखूँगा, और मुझे उनके बारे में सोचना अच्छा लगता है।

दो दिन बाद क्रिसमस है। ' क्वीन्स-वे ' की दुकानों पर इन दिनों भीड़ लगी रहती है। कुछ लोग खरीदारी करने के बाद अक्सर यहां आते हैं, उनके हाथों में रंग-बिरंगी बास्केट, थैले और लिफाफे हैं। जब वे भीतर आते हैं, वह दरवाजे की ओर देखने लगती है। उसकी आँखें बहुत उदास हैं। मैं उसकी बाँहों को देख रहा हूँ। प्लास्टिक की चूड़ी और ज्यादा नीचे खिसक आई है। उसका निचला हिस्सा प्याले की कॉफी में भीग रहा है, भीग रहा है और चमक रहा है।

"निन्दी", उसने धीरे से कहा और रुक गई।

यह मेरे घर का नाम है। एक बार उसके पूछने पर मैंने बताया था। जब कभी हम दोनों अकेले होते हैं, जब कभी हम दोनों एक-दूसरे के संग होते हुए भी अपने-अपने में अकेले हो जाते हैं, और उसे लगता है कि उसकी बात से मुझे तकलीफ होगी, तो वह मुझे इसी नाम से बुलाती है। मेरा हाथ मेरे घुटनों के बीच दबा है। लगता है, अब वह क्षण आ गया है, जिसकी इतनी देर से प्रतीक्षा थी, वह आ गया है और हम दोनों के बीच आकर बैठ गया है।

"निन्दी, यह गलत है", उसने धीरे से कहा, इतने धीरे से कि मैं हँसने लगा।

"तुम क्या इतनी देर से यही सोच रही थी?", मैंने कहा।

"निन्दी, सच !", वह भी हंसने लगी, किन्तु उसकी आँखें पहले-जैसी ही उदास हैं "मैंने इस तरह कभी नहीं सोचा था।"

"किस तरह?", मैंने पूछा।

"जैसे तुमने मुझे लिखा था।... मैंने उसे कई बार पढ़ा है, निन्दी ... यह गलत है, सच, बहुत गलत है निन्दी!", उसने मेरी ओर देखा। उसके बाल बहुत रूखे हैं और होठों पर हल्की-सी लिपस्टिक है, जैसे वह लिपस्टिक न हो, सिर्फ होंठों का रंग ही तनिक गहरा हो गया हो। वह मेरी ओर देख रही है "निन्दी, तुम ...", उसने आगे कुछ कहा, जो बहुत धीमा था। मैंने उसकी ओर देखा । उसने अपनी दो उँगलियों में रूमाल कसकर लपेट लिया था "निन्दी, सच, तुम पागल हो ! ... मैंने कभी ऐसे नहीं सोचा। नॉट इन दैट वे !"

नॉट इन दैट वे, ये चार शब्द बहुत ही छोटे हैं, आसान हैं, और मैं अचानक खाली-सा हो गया हूँ, और सोचता हूँ, जिन्दगी कितनी हल्की है!

मैंने उसकी ओर देखा। उसकी आँखों में बड़े-बड़े आँसू थे, जैसे बच्चों की आँखों में होते हैं। किन्तु उन आँसुओं का उसके चेहरे से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे भूले से निकल आए हैं, और कुछ देर में, ढुलकने से पहले वे खुद-ब-खुद सूख जायेंगे, और उसे पता भी नहीं चलेगा।

लेकिन शायद कुछ है, जो नहीं सूखेगा। मैं कल रात यही सोचता रहा था कि वह 'न' कह देगी, तो क्या होगा? अब उसने कह दिया है, और मैं वैसा ही हूँ। कुछ भी नहीं बदला। जो बचा रह गया है, वह पहले भी था ... वह सिर्फ है, जो उम्र के संग बढ़ता जाएगा ... बढ़ता जाएगा और खामोश रहेगा ... बन्द दरवाजे की तरह, उड़ते पत्तों और पुराने पत्थरों की तरह... और मैं जीता रहूँगा।

उसके चेहरे पर शर्म और सहानुभूति का अजीब-सा घुला-मिला भाव है, सहानुभूति मेरे लिए, शर्म शायद अपने पर।

"निन्दी, ... क्या तुम नाराज हो ?"

"मैं अपना सिर हिलाता हूँ-हाँ।"

"तुम अब मुझे बुरा समझते होगे?"

मैं हँस देता हूँ। मैं अब बिलकुल शान्त हूँ। टाँगों के नीचे मेरा हाथ नहीं काँप रहा। जब हम यहाँ आए थे, तब सब-कुछ धुँधला-धुँधला-सा दीख रहा था। लगा था, जैसे सपने में मैं सब कुछ देख रहा हूँ। सपना अब भी लगता है, उसकी शाल, उसकी सफेद मुलायम बांहें... लेकिन अब वे ठोस हैं, वास्तविक हैं। मैं चाहूँ, तो उन्हें छू सकता हूँ और उन्हें छूते हुए मेरा हाथ नहीं काँपेगा।

"निन्दी, वी कैन बि फ्रैंड्स, काँट वी?", उसने अँग्रेजी मे कहा। जब वह किसी बात से बहुत जल्दी घबरा जाती है, तो हमेशा अंग्रेजी में बोलती है और मुझे उसकी यह

घबराहट अच्छी लगती है। मैं कुछ भी नहीं कहता, क्योंकि कुछ भी कहना कोई मानी नहीं रखता और यह मुझे मालूम है कि जो कुछ मैं कहूँगा, वह नहीं होगा; जो कहना चाहता हूँ, वह शब्दों से अलग है... इसलिए पन्द्रह-बीस वर्ष बाद जब मैं दिसम्बर की इस सुबह को याद करूँगा, तो शब्दों के सहारे नहीं। याद करने पर बहुत-सी बेकार, निरर्थक चीजें याद आयेंगी, जैसे, वह क्रिसमस के दो दिन पहले की सुबह थी ... हम ' एल्प्स ' में बैठे थे और बाहर दिसम्बर के पीले पत्ते हवा में झरते रहे थे ...

क्योंकि यह कहानी नहीं है, ये कुछ ऐसी बातें हैं, जिनकी कहानी कभी नहीं बनती। यही कारण है कि बार-बार मन-ही-मन दुहरा रहा हूँ, ... ये वर्ष के अन्तिम दिन हैं। बाहर दुकानों पर क्रिसमस और न्यू ईयर कार्ड बिक रहे हैं। यह दिल्ली है, ... हमारा शहर। बरसों से हम दोनों अलग-अलग घरों में रह रहे हैं... किन्तु आज की सुबह हम दोनों अपने-अपने रास्तों से हटकर इस छोटे-से कैफे में आ बैठे हैं, कुछ देर के लिए। कुछ देर बाद वह अपने घर जाएगी और मैं जार्ज के कमरे में चला जाऊँगा, सारी शाम पीता रहूँगा।

"सच, निन्दी, कांट वी बि फ्रैंड्स?"

उसके स्वर में भीगा-सा आग्रह है। मैं मुस्कराता हूँ। मुझे एक लम्बी-सी जम्हाई आती है। मैं उसे दबाता नहीं। अब मैं बिना शर्म महसूस किये उससे कह सकता हूँ कि कल सारी रात मैं जागता रहा था।

"क्या सोच रहे हो ?" उसने पूछा।

"बर्फ के बारे में", मैंने कहा "तुमने कहा था कि शिमले में कल बर्फ गिरी थी।"

"हां, मैंने अखबार में पढ़ा था और मैं देर तक तुम्हारे बारे में सोचती रही थी। रात-भर बर्फ गिरती रही थी और मुझे पता भी नहीं चला था। इसीलिए कल रात इतनी सर्दी थी। मैं अपने कमरे की सारी खिड़कियाँ बन्द करके सोई थी।", उसने कहा "जब कभी शिमले में बर्फ़ गिरती है, तो दिल्ली में हमेशा सर्दी बढ़ जाती है।"

कुछ देर पहले मैं ' एल्प्स ' के आगे खड़ा था। मैं पहले आ गया था और ट्रैफिक-लाइट को देखता रहा था। मैंने दस तक गिनती गिनी थी। सोचा था, यदि दस तक पहुंचते-पहुंचते बत्ती का रंग हरा हो जाएगा, तो वह हां कहेगी, नहीं तो नहीं ... किन्तु अब मैं शान्त हूँ।

"और निन्दी", उसने कहा "तुमने यदि पत्र में न लिखा होता, तो अच्छा रहता। अब हम वैसे नहीं रह सकेंगे, जैसे पहले थे ..."

'और मैं जागता रहा था', मैंने सोचा। "तुमने नहीं सुना? कल रात देर तक दिल्ली की सूनी सड़कों पर पत्ते भागते रहे थे", मैंने कहा।

"मैं खिड़कियाँ बन्द करके सो गई थी", उसने कहा "और मुझे सपने में हुमायूँ

का मकबरा दिखाई दिया था। तुम जोर से हंसे थे और बेचारा नीलकंठ डर से उड़ गया था।"

हम दोनों चुप बैठे रहे थे।

कुछ देर बाद उसकी पलकें ऊपर उठीं, "क्या सोच रहे हो?" उसने पूछा।

मैं चुपचाप उसकी ओर देखता रहा। "बर्फके बोरे में", मैंने धीरे से कहा।

हम उठ खड़े होते हैं। आरकेस्ट्रा शुरू होने वाला है और हम उसके शुरू होने से पहले ही बाहर चले जाना चाहते हैं। दरवाजे के पास आकर मैं ठहर जाता हूँ और आखिरी बार पीछे मुड़कर देखता हूँ। मेजपोश पर वे लकीरें अब भी अंकित हैं, जो अनजाने में उसने चम्मच से खींच दी थीं। उन लकीरों के दोनों ओर दो प्याले हैं, जिनसे हमने अभी कॉफी पी थी। वे दोनों बिलकुल पास-पास खड़े हैं... और कुछ देर तक वैसे ही पड़े रहेंगे, जब तक बेयरा उन्हें उठाकर नहीं ले जाएगा। वे दो कुर्सियां भी हैं, जिन पर हम इतनी देर से बैठे रहे थे और जो अब खाली हैं। कुछ देर तक वे वैसी ही खाली, प्रतीक्षारत पड़ी रहेंगी।

जार्ज की फियान्स ने मुझे देखा है। वह मुझे देखती हुई शरारत-भरी दृष्टि से मुस्करा रही है। वह समझती है, हम दोनो लवर हैं। जार्ज ने शायद उसे बताया होगा। जार्ज स्टेज पर ड्रम के आगे बैठा है। कुछ ही देर में आरकेस्ट्रा शुरू हो जाएगा। जार्ज ने भी मुझे देख लिया है। वह धीरे से ड्रम-स्टिक हवा में घुमाता है। "गुड-लक!", उसने कहा और धीरे से आँख दबा दी।

मैं बाहर चला आया।

बाहर बादल छँट गए हैं। कारीडोर में धूप सिमट आई है। 'एल्प्स' के बाहर अँग्रेजी पत्रिकाओं की दुकान पर कुछ लोग जमा हो गए हैं। सामने क्वींस-वे की दुकानों के आगे भीड़ लगी है। क्रिसमस-रिडक्शन-सेल की तख्तियों पर टँगे रंग-बिरंगे रिबन हवा चलने से फरफराने लगते हैं। उनके पीछे दिसम्बर का नीला आकाश फैला है।

मुझे एक लम्बी-सी जम्हाई आती है और आँखों में पानी भर जाता है।

"क्या बात है?", उसने पूछा।

"कुछ नहीं", मैंने कहा।

"मुझे कुछ क्रिसमस कार्ड खरीदने हैं, मेरे संग आओगे?", उसने कहा।

"चलो" मैंने कहा "मैं बिल्कुल खाली हूँ।"

हम दोनों क्वीन्स-वे की ओर चलने लगते हैं।

"जरा ठहरो, मैं अभी आता हूँ।" मैं पीछे मुड़ गया और तेजी से कदम बढ़ाता हुआ अमरीकी पत्रिकाओं की दुकान के सामने आ खड़ा हुआ। पुरानी पत्रिकाओं का ढेर मेरे सामने बेंच पर रखा था। मैं उनहें उलट-फेरकर नीचे से एक मैगजीन उठा लेता हूँ।

वही कवर है, जो अभी कुछ देर पहले देखा था। वही बीच का दृश्य है, जिस पर अर्द्धनग्न युवती धूप में लेटी है।

"क्या दाम है?", मैंने पूछा।

लड़के ने मुझे देखा, दाम बताया और मुस्कराते हुए सीटी बजाने लगा।

यही सच है

मन्नू भंडारी

कानपुर

सामने आँगन में फैली धूप सिमटकर दीवारों पर चढ़ गई और कन्धे पर बस्ता लटकाए नन्हे-नन्हे बच्चों के झुण्ड-के-झुण्ड दिखाई दिये, तो एकाएक ही मुझे समय का आभास हुआ। घण्टा भर हो गया यहां पर खड़े-खड़े और संजय का अभी तक पता नहीं! झुँझलाती-सी मैं कमरे में आती हूँ। कोने में रखी मेज पर किताबें बिखरी पड़ी हैं, कुछ खुली, कुछ बन्द। एक क्षण मैं उन्हें ही देखती रहती हूँ, फिर निरुद्देश्य-सी कपड़ों की अलमारी खोलकर, सरसरी-सी नजर से कपड़े देखती हूँ। सब बिखरे पड़े हैं। इतनी देर यों ही खड़ी रही, इन्हें ही ठीक कर लेती ... पर मन नहीं करता और फिर बन्द कर देती हूँ।

नहीं आना था तो व्यर्थ ही मुझे समय क्यों दिया? फिर यह कोई आज ही की बात है! हमेशा संजय अपने बताये हुये समय से दो घंटे देरी करके आता है, और मैं हूँ कि उसी क्षण से ही प्रतीक्षा करने लगती हूँ। इसके बाद लाख कोशिशें करके भी तो किसी काम में अपना मन नहीं लगा पाती। वह क्यों नहीं समझता कि मेरा समय बहुत अमूल्य है; थीसिस पूरी करने के लिये अब मुझे अपना सारा समय पढ़ाई में ही लगाना चाहिये। पर यह बात कैसे समझाऊँ!

मेज पर बैठ कर फिर पढ़ने का उपक्रम करने लगती हूँ, पर मन है कि लगता ही नहीं। पर्दे के जरा से हिलने से दिल की धड़कन बढ़ जाती है और बार-बार नजर घड़ी के सरकते हुये काँटों पर दौड़ जाती है। हर समय यही लगता है, वह आया ! ... वह आया! ...

तभी मेहता साहब की पाँच साल की बच्ची झिझकती-सी कमरे में आती है, "आंटी, हमें कहानी सुनाओगी?"

"नहीं, अभी नहीं, पीछे आना !" मैं रुखाई से जवाब देती हूँ। वह भाग जाती है।

ये मिसेज मेहता भी एक ही हैं ! यों तो महीनों शायद मेरी सूरत नहीं देखतीं, पर बच्ची को जब-तब मेरा सिर खाने को भेज देती हैं। मेहता साहब तो फिर भी कभी-कभी

आठ-दस दिन में खैरियत पूछ ही लेते हैं, पर वे तो बेहद अकड़ू मालूम होती हैं। अच्छा ही है, ज्यादा दिलचस्पी दिखातीं तो मैं क्या इतनी आजादी से घूम-फिर सकती थी?

खट-खट-खट ... वही परिचित पदध्वनि ! तो आ गया संजय। मैं बरबस ही अपना सारा ध्यान पुस्तक में केन्द्रित कर लेती हूँ। रजनीगंधा के ढेर-सारे फूल लिये संजय मुस्कराता-सा दरवाजे पर खड़ा है। मैं देखती हूँ पर मुस्कराकर उसका स्वागत नहीं करती। हंसता हुआ वह आगे बढ़ता है; और फूलों को मेज पर पटक कर, पीछे से मेरे दोनो कंधे दबाता हुआ पूछता है, "बहुत नाराज हो?"

रजनीगंधा की महक से जैसे सारा कमरा महकने लगता है।

"मुझे क्या करना है नाराज होकर ?" रुखाई से मैं कहती हूँ।

वह कुर्सी सहित मुझे घुमा कर अपने सामने कर लेता है और बड़े दुलार के साथ ठोड़ी उठा कर कहता है, "तुम्हीं बताओ, क्या करता? क्वालिटी में दोस्तों के बीच फंस गया। बहुत कोशिश करके भी उठ नहीं पाया। सबको नाराज करके आना अच्छा भी तो नहीं लगता।"

इच्छा होती है कह दूं, तुम्हें दोस्तों का ख्याल है, उनके बुरा मानने की चिन्ता है, बस मेरी ही नहीं ! पर कुछ कह नहीं पाती, एकटक उसके चेहरे की ओर देखती रहती हूँ ... उसके सांवले चेहरे पर पसीने की बूंदें चमक रही हैं। कोई और समय होता तो मैंने अपने आँचल से इन्हें पोंछ दिया होता, पर आज नहीं। वह मन्द-मन्द मुस्करा रहा है, उसकी आँखें क्षमा-याचना कर रही हैं। पर मैं क्या करूँ ? ... तभी वह अपनी आदत के अनुसार कुर्सी के हत्थे पर बैठ कर मेरे गाल सहलाने लगता है। मुझे उसकी बात पर गुस्सा आता है। हमेशा इसी तरह करेगा और फिर दुनिया-भर का लाड़-दुलार दिखलायेगा। वह जानता जो है कि इसके आगे मेरा क्रोध टिक नहीं पाता। ... फिर उठाकर वह फूलदान के पुराने फूल फेंक देता है, और नये फूल लगाता है। फूल सजाने में वह कितना कुशल है ! एक बार मैंने यों ही कह दिया था कि मुझे रजनीगंधा के फूल बड़े पसन्द हैं, तो उसने नियम बना लिया कि हर चौथे दिन ढेर सारे फूल लाकर मेरे कमरे में लगा देता है। और अब तो मुझे भी ऐसी आदत हो गयी है कि एक दिन भी कमरे में फूल न रहें तो न पढ़ने में मन लगता है, न सोने में। ये फूल जैसे संजय की उपस्थिति का आभास देते रहते हैं।

थोड़ी देर बाद हम घूमने निकल जाते हैं। एकाएक ही मुझे इरा के पत्र की बात याद आती है। जो बात सुनाने के लिए मैं सबेरे से ही आतुर थी, इस गुस्सेबाजी में उसे ही भूल गई थी।

" सुनो, इरा ने लिखा है कि किसी दिन भी मेरे पास इन्टरव्यू का बुलावा आ सकता है, मुझे तैयार रहना चाहिये।"

"कहाँ, कलकत्ता से?" कुछ याद करते हुए संजय पूछता है, और फिर एकाएक

ही उछल पड़ता है, " यदि तुम्हें वह जॉब मिल जाए तो मजा आ जाए, दीपा, मजा आ जाए!"

हम सड़क पर हैं, नहीं तो अवश्य ही उसने आवेश में आकर कोई हरकत कर डाली होती। जाने क्यों, मुझे उसका इस प्रकार प्रसन्न होना अच्छा नहीं लगता। क्या वह यह चाहता है कि मैं कलकत्ता चली जाऊँ, उससे दूर? ...

तभी सुनाई देता है, " तुम्हें यह जॉब मिल जाए तो सच मैं भी अपना तबादला कलकत्ता ही करवा लूँ, हेड आफिस में। यहाँ रोज की किचकिच से तो मेरा मन ऊब गया है। कितनी ही बार सोचा कि तबादले की कोशिश करूँ, पर तुम्हारे ख्याल ने हमेशा मुझे बांध लिया। आफिस में शान्ति हो जायेगी, पर मेरी शामें कितनी बीरान हो जायेंगी।"

उसके स्वर की आर्द्रता ने मुझे छू लिया। एकाएक ही मुझे लगने लगा कि रात बड़ी सुहावनी हो चली है।

हम दूर निकलकर अपनी प्रिय टेकरी पर जाकर बैठ जाते हैं। दूर-दूर तक हलकी-सी चाँदनी फैली हुई है, और शहर की तरह यहां का वातावरण धुएं से भरा हुआ नहीं है। वह दोनों पैर फैला कर बैठ जाता है और घंटों मुझे अपने आफिस के झगड़े की बातें सुनाता है और फिर कलकत्ता जाकर साथ जीवन बिताने की योजनाएं बनाता है। मैं कुछ नहीं बोलती, बस एकटक उसे देखती हूँ, देखती रहती हूँ।

जब वह चुप हो जाता है तो बोलती हूँ, " मुझे तो इण्टरव्यू में जाते हुए बड़ा डर लगता है। पता नहीं, कैसे क्या पूछते होंगे! मेरे लिए तो यह पहला मौका है।"

वह खिलखिलाकर हंस पड़ता है।

"तुम भी एक ही मूर्ख हो! घर से दूर, यहां कमरा लेकर अकेली रहती हो, रिसर्च कर रही हो, दुनिया-भर में घूमती-फिरती हो और इण्टरव्यू के नाम से डर लगता है। क्यों?" और गाल पर हल्की-सी चपत जमा देता है। फिर समझाता हुआ कहता है, "और देखो, आजकल ये इण्टरव्यू आदि तो सब दिखावा-मात्र होते हैं। वहां किसी जान-पहचान वाले से इन्फ्लुएंस डलवाना जाकर।"

"पर कलकत्ता तो मेरे लिए एकदम नई जगह है। वहाँ इरा को छोड़कर मैं किसी को जानती भी नहीं। अब उन लोगों की कोई जान-पहचान हो तो बात दूसरी है," असहाय-सी मैं कहती हूँ।

"और किसी को नहीं जानती?" फिर मेरे चेहरे पर नजरें गड़ाकर पूछता है, "निशीथ भी तो वहीं है?"

"होगा, मुझे क्या करना उससे?" मैं एकदम ही भन्ना कर जवाब देती हूँ। पता नहीं क्यों, मुझे लग ही रहा था कि अब वह यही बात कहेगा।

"कुछ नहीं करना?" वह छेड़ने के लहजे में कहता है।

और मैं भभक पड़ती हूँ, " देखो संजय, मैं हजार बार तुमसे कह चुकी हूं कि उसे लेकर मुझसे मजाक मत किया करो! मुझे इस तरह का मजाक जरा भी पसन्द नहीं है!"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ता है, पर मेरा तो मूड ही खराब हो जाता है।

हम लौट पड़ते हैं! वह मुझे खुश करने के इरादे से मेरे कन्धे पर हाथ रख देता है। मैं झटककर हाथ हटा देती हूँ, "क्या कर रहे हो? कोई देख लेगा तो क्या कहेगा?"

"कौन है यहाँ जो देख लेगा? और देख लेगा तो देख ले, आप ही कुढ़ेगा।"

" नहीं, हमें पसन्द नहीं है यह बेशर्मी!" और सच ही मुझे रास्ते में ऐसी हरकतें पसन्द नहीं हैं। चाहे रास्ता निर्जन ही क्यों न हो, पर है तो रास्ता ही; फिर कानपुर जैसी जगह।

कमरे पर लौट कर मैं उसे बैठने को कहती हूँ, पर वह बैठता नहीं, बस बाहों में भरकर एक बार चूम लेता है। यह भी जैसे उसका रोज का नियम है।

वह चला जाता है! मैं बाहर बालकनी में निकलकर उसे देखती रहती हूँ। ... उसका आकार छोटा होते-होते सड़क के मोड़ पर जाकर लुप्त हो जाता है। मैं उधर ही देखती रहती हूँ-निरुद्देश्य-सी, खोई-खोई सी। फिर आकर पढ़ने बैठ जाती हूँ।

रात में सोती हूँ तो देर तक मेरी आँखें मेज पर लगे रजनीगंधा के फूलों को ही निहारती रहती हैं। जाने क्यों अक्सर मुझे भ्रम हो जाता है कि ये फूल नहीं हैं, मानो संजय की अनेकानेक आँखें हैं, जो मुझे देख रही हैं, सहला रही हैं, दुलरा रही हैं। और अपने को यों असंख्य आँखों से निरन्तर देखे जाने की कल्पना से ही मैं लजा जाती हूँ।

मैंने संजय को भी एक बार यह बात बताई थी, तो वह खूब हंसा था और फिर मेरे गालों को सहलाते हुए उसने कहा था कि मैं पागल हूँ, निरी मूर्खा हूँ!

कौन जाने, शायद उसका कहना ही ठीक हो, शायद मैं पागल ही होऊँ!

कानपुर

मैं जानती हूँ, संजय का मन निशीथ को लेकर जब-तब सशंकित हो उठता है; पर मैं उसे कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैं निशीथ से नफरत करती हूँ, उसकी याद-मात्र से मेरा मन घृणा से भर उठता है। ... फिर अठारह वर्ष की आयु में किया हुआ प्यार भी कोई प्यार होता है भला! निरा बचपन होता है, महज पागलपन! उसमें आवेश रहता है पर स्थायित्व नहीं, गति रहती है पर गहराई नहीं। जिस वेग से वह आरम्भ होता है, जरा-सा झटका लगने पर उसी वेग से टूट जाता है।... और उसके बाद आहों, आँसुओं और सिसकियों का एक दौर, सारी दुनिया की निस्सारता और आत्महत्या करने के अनेकानेक संकल्प और फिर एक तीखी घृणा। जैसे ही जीवन को दूसरा आधार मिल जाता है, उस सबको भूलने में एक दिन भी नहीं लगता। फिर तो वह सब ऐसी बेवकूफी लगती है, जिस पर बैठकर घण्टों हँसने की तबीयत होती है। तब एकाएक ही इस बात का एहसास

होता है कि ये सारे आँसू, ये सारी आहें उस प्रेमी के लिए नहीं थे, वरन् जीवन की उस रिक्तता और शून्यता के लिए थे, जिसने जीवन को नीरस बनाकर बोझिल कर दिया था।

तभी तो संजय को पाते ही मैं निशीथ को भूल गई। मेरे आँसू हँसी में बदल गए और आहों की जगह किलकारियां गूँजने लगीं। पर संजय है कि जब-तब निशीथ की बात को लेकर व्यर्थ ही खिन्न-सा हो उठता है। मेरे कुछ कहने पर वह खिलखिला अवश्य पड़ता है, पर मैं जानती हूँ, वह पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं है।

उसे कैसे बताऊँ कि मेरे प्यार का, मेरी कोमल भावनाओं का, भविष्य की मेरी अनेकानेक योजनाओं का एकमात्र केन्द्र संजय ही है। यह बात दूसरी है कि चांदनी रात में, किसी निर्जन स्थान में, पेड़-तले बैठकर भी मैं अपने थीसिस की बात करती हूँ या वह अपने आफिस की, मित्रों की बातें करता है, या हम किसी और विषय पर बात करने लगते हैं ... पर इस सबका यह मतलब तो नहीं कि हम प्रेम नहीं करते! वह क्यों नहीं समझता कि आज हमारी भावुकता यथार्थ में बदल गई है, सपनों की जगह हम वास्तविकता में जीते हैं! हमारे प्रेम को परिपक्वता मिल गई है, जिसका आधार पाकर वह अधिक गहरा हो गया है, स्थायी हो गया है।

पर संजय को कैसे समझाऊँ यह सब? कैसे उसे बताऊँ कि निशीथ ने मेरा अपमान किया है, ऐसा अपमान, जिसकी कचोट से मैं आज भी तिलमिला जाती हूँ। सम्बन्ध तोड़ने से पहले एक बार तो उसने मुझे बताया होता कि आखिर मैंने ऐसा कौन-सा अपराध कर डाला था, जिसके कारण उसने मुझे इतना कठोर दण्ड दे डाला। सारी दुनिया की भर्त्सना तिरस्कार, परिहास और दया का विष मुझे पीना पड़ा ... विश्वासघाती! नीच कहीं का ! ... और संजय सोचता है कि आज भी मेरे मन में उसके लिए कोई कोमल स्थान है! छिः मैं उससे नफरत करती हूँ! और सच पूछो तो अपने को भाग्यशालिनी समझती हूँ कि मैं एक ऐसे व्यक्ति के चंगुल में फँसने से बच गई, जिसके लिए प्रेम एक महज खिलवाड़ है।

संजय यह तो सोचो कि यदि ऐसी कोई भी बात होती, तो क्या मैं तुम्हारे आगे, तुम्हारी हर उचित-अनुचित चेष्टा के आगे, यों आत्मसमर्पण करती? तुम्हारे चुम्बनों और आलिंगनों में अपने को यों बिखरने देती? जानते हो, विवाह से पहले कोई लड़की किसी को इन सबका अधिकार नहीं देती । पर मैंने दिया, क्या केवल इसीलिये नहीं कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, बहुत-बहुत प्यार करती हूँ? विश्वास करो संजय, तुम्हारा-मेरा प्यार ही सच है, निशीथ का प्यार तो मात्र छल था, भ्रम था, झूठ था।

कानपुर

परसों मुझे कलकत्ता जाना है। सच, बड़ा डर लग रहा है! कैसे क्या होगा? मान

लो इण्टरव्यू में बहुत नर्वस हो गई तो? संजय को कह रही हूँ कि वह भी साथ चले, पर उसे आफिस से छुट्टी नहीं मिल सकती है। एक तो नया शहर, फिर इण्टरव्यू! अपना कोई साथ होता तो बड़ा सहारा मिल जाता। मैं कमरा लेकर अकेली रहती हूँ, यों अकेली घूम-फिर भी लेती हूँ, तो संजय सोचता है, मुझमें बड़ी हिम्मत है, पर सच, बड़ा डर लग रहा है।

बार-बार मैं यह मान लेती हूँ कि मुझे नौकरी मिल गई है और मैं संजय के साथ वहां रहने लगी हूँ। कितनी सुन्दर कल्पना है, कितनी मादक! पर इण्टरव्यू का भय मादकता से भरे इस स्वप्न-जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है।...

काश, संजय भी किसी तरह मेरे साथ चल पाता!

कलकत्ता

गाड़ी जब हावड़ा स्टेशन के प्लेटफार्म पर प्रवेश करती है तो जाने कैसी विचित्र आशंका, विचित्र से भय से मेरा मन भर जाता है। प्लेटफार्म पर खड़े असंख्य नर-नारियों में मैं इरा को ढूँढती हूँ। वह कहीं दिखाई नहीं देती। नीचे उतरने के बजाय खिड़की में से दूर-दूर तक नजरें दौड़ाती हूँ।... आखिर एक कुली को बुलाकर, अपना छोटा-सा सूटकेस और बिस्तर उतारने का आदेश दे, मैं नीचे उतर पड़ती हूँ। उस भीड़ को देखकर मेरी दहशत जैसे और बढ़ जाती है। तभी किसी के हाथ के स्पर्श से मैं बुरी तरह चौंक जाती हूँ। पीछे देखती हूँ, तो इरा खड़ी है।

रूमाल से चेहरे का पसीना पोंछते हुए कहती हूँ, " सच, तुझे न देखकर मैं घबरा रही थी कि तुम्हारे घर भी कैसे पहुँचूंगी!"

बाहर आकर हम टैक्सी में बैठते हैं। अभी तक मैं स्वस्थ नहीं हो पाई हूँ। जैसे ही हावड़ा पुल पर गाड़ी पहुंचती है, हुगली के जल को स्पर्श करती हुई ठण्डी हवाएं तन-मन को एक ताजगी से भर देती हैं। इरा मुझे इस पुल की विशेषता बताती है और मैं विस्मित-सी उस पुल को देखती हूँ, दूर-दूर तक फैले हुगली के विस्तार को देखती हूँ, उसकी छाती पर खड़ी और विहार करती अनेक नौकाओं को देखती हूँ, बड़े-बड़े जहाजों को देखती हूँ। ...

उसके बाद बहुत ही भीड़-भरी सड़कों पर हमारी टैक्सी रुकती-रुकती चलती है। ऊँची-ऊँची इमारतों और चारों ओर के वातावरण से कुछ विचित्र-सी विराटता का आभास होता है, और इस सबके बीच जैसे मैं अपने को बड़ा खोया-खोया-सा महसूस करती हूँ। कहां पटना और कानपुर और कहां यह कलकत्ता! सच, मैंने बहुत बड़े शहर देखे ही नहीं!

सारी भीड़ को चीरकर हम रेड-रोड पर आ जाते हैं। चौड़ी शान्त सड़क। मेरे दोनों ओर लम्बे-चौड़े खुले मैदान।

"क्यों इरा, कौन-कौन लोग होंगे इण्टरव्यू में? मुझे तो बड़ा डर लग रहा है।"

"अरे सब ठीक हो जायेगा! तू और डर? हम-जैसे डरें तो कोई बात भी है। जिसने अपना सारा कैरियर अपने-आप बनाया, वह भला इण्टरव्यू में डरे!" फिर कुछ देर ठहर कर कहती है," अच्छा भैया-भाभी तो पटना ही होंगे? जाती है कभी उनके पास या नहीं?"

" कानपुर आने के बाद एक बार गई थी । कभी-कभी यों ही पत्र लिख देती हूँ।"

"भई, कमाल के लोग हैं, बहन को भी नहीं निभा सके!"

मुझे यह प्रसंग कतई पसन्द नहीं। मैं नहीं चाहती थी कि कोई इस विषय पर बात करे। मैं मौन ही रहती हूँ।

इरा का छोटा-सा घर है, सुन्दर ढंग से सजाया हुआ। उसके पति के दौरे पर जाने की बात सुनकर पहले मुझे अफसोस हुआ था; वे होते तो कुछ मदद ही करते! पर फिर एकाएक लगा कि उनकी अनुपस्थिति में मैं शायद अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकूँ। उमका बच्चा भी बड़ा प्यारा है।

शाम को इरा मुझे कॉफी-हाउस ले जाती है। अचानक मुझे वहां निशीथ दिखाई पड़ता है। मैं सकपकाकर नजर घुमा लेती हूँ। पर वह हमारी मेज पर ही आ पहुँचता है विवश होकर मुझे उधर देखना पड़ता है, नमस्कार भी करना पड़ता है, इरा का परिचय भी करवाना पड़ता है। इरा पास की कुर्सी पर बैठने का निमन्त्रण दे देती है । मुझे लगता है, मेरी सांस रुक जायेगी।

"कब आईं?"

"आज सवेरे ही।"

"अभी ठहरोगी? ठहरी कहां हो ?"

जवाब इरा देती है। मैं देख रही हूँ, निशीथ बहुत बदल गया है। उसने कवियों की तरह बाल बढ़ा लिए हैं। यह क्या शौक चर्राया? उसका रंग स्याह पड़ गया है। वह दुबला भी हो गया है।

विशेष बातचीत नहीं होती और हम लोग उठ पड़ते हैं। इरा को मुन्नू की चिन्ता सता रही थी, और मैं स्वयं घर पहुंचने को उतावली हो रही थी। कॉफी-हाउस से धर्मतल्ला तक वह पैदल चलता हुआ हमारे साथ आता है। इरा ही उससे बात कर रही है,मानो वह इरा का ही मित्र हो। इरा अपना पता समझा देती है और वह दूसरे दिन नौ बजे आने का वायदा करके चला जाता है।

पूरे तीन साल बाद निशीथ का यों मिलना! न चाहकर भी जैसे सारा अतीत आँखों के सामने खुल जाता है। किन्तु दुबला हो गया है निशीथ! ... लगता है, जैसे मन में कहीं कोई गहरी पीड़ा छिपाए बैठा है।

मुझसे अलग होने का दुःख तो नहीं साल रहा है इसे?

कल्पना चाहे कितनी ही मधुर क्यों न हो, एक तृप्तियुक्त आनन्द देने वाली क्यों

न हो, पर मैं जानती हूँ यह झूठ है। यदि ऐसा ही था तो कौन उसे कहने गया था कि तुम इस सम्बन्ध को तोड़ दो! उसने अपनी इच्छा से ही तो यह सब किया था।

एकाएक ही मेरा मन कटु हो उठता है। यही तो वह है वह व्यक्ति, जिसने मुझे अपमानित करके सारी दुनिया के सामने छोड़ दिया था महज उपहास का पात्र बनाकर! ओह! क्यों नहीं मैंने उसे पहचानने से इन्कार कर दिया? जब वह मेज के पास आकर खड़ा हुआ तो क्यों नहीं मैंने कह दिया कि माफ कीजिए, मैं आपको पहचानती नहीं। जरा उसका खिसियाना तो देखती! वह कल भी आएगा। मुझे उसे साफ-साफ मना कर देना चाहिए था कि मैं उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहती, मैं उससे नफरत करती हूँ!...

अच्छा है, कल आए! मैं उसे बता दूंगी कि जल्दी ही मैं संजय से विवाह करने वाली हूँ। यह भी बता दूंगी कि मैं पिछला सब कुछ भूल चुकी हूँ। यह भी बता दूंगी कि मैं उससे घृणा करती हूँ और उसे जिंदगी में कभी माफ नहीं कर सकती।...

यह सब सोचने के साथ-साथ, जाने क्यों, मेरे मन में यह बात भी उठ रही है कि तीन साल हो गए, अभी तक निशीथ ने विवाह क्यों नहीं किया? करे, न करे, मुझे क्या!...

क्या वह आज भी मुझसे कुछ उम्मीद रखता है? हूँ! मूर्ख कहीं का!

संजय ! मैंने तुमसे कितना कहा था कि तुम मेरे साथ चलो, पर तुम नहीं आए। ... इस समय जबकि मुझे तुम्हारी इतनी-इतनी याद आ रही है, बताओ मैं क्या करूं?

कलकत्ता

नौकरी पाना इतना मुश्किल है, इसका मुझे गुमान तक नहीं था। इरा कहती है कि डेढ़ सौ की नौकरी तक के लिए खुद मिनिस्टर सिफारिश करने पहुंच जाते हैं, फिर यह तो तीन सौ का जॉब है। ... निशीथ सवेरे से शाम तक इसी चक्कर में भटका है, यहां तक कि उसने अपने आफिस से भी छुट्टी ले ली है! वह क्यों मेरे काम में इतनी दिलचस्पी ले रहा है? उसका परिचय बड़े-बड़े लोगों में है और वह कहता है कि जैसे भी होगा, वह यह काम मुझे दिलाकर ही मानेगा। पर आखिर क्यों?

कल मैंने सोचा था कि अपने व्यव्हार की रुखाई से मैं स्पष्ट कर दूंगी कि अब वह मेरे पास न आए। पौने नौ बजे के करीब, जब मैं अपने टूटे हुए बाल फेंकने खिड़की पर गई, तो देखा, घर से थोड़ी दूर पर निशीथ टहल रहा है। वही लम्बे बाल, कुरता-पाजामा। तो वह समय के पहले ही आ गया! संजय होता तो ग्यारह के पहले नहीं पहुंचता; समय पर पहुंचना तो वह जानता ही नहीं।

उसे यों चक्कर काटते देख मेरा मन जाने कैसा हो आया! ... और जब वह आया तो मैं चाहकर भी कटु न हो सकी। मैंने उसे कलकत्ते आने का मकसद बताया, तो लगा कि वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वहीं बैठे-बैठे फोन करके उसने उस नौकरी के सम्बन्ध में सारी

जानकारी प्राप्त कर ली, कैसे क्या करना होगा, इसकी योजना भी बना डाली, वहीं बैठे-बैठे फोन से आफिस में सूचना भी दे दी कि आज वह आफिस नहीं आयेगा।

विचित्र स्थिति मेरी हो रही थी। उसके इस अपनत्व-भरे व्यवहार को मैं स्वीकार भी नहीं कर पाती थी, नकार भी नहीं पाती थी। सारा दिन मैं उसके साथ घूमती रही, पर काम की बात के अतिरिक्त उसने एक भी बात नहीं की। मैंने कई बार चाहा कि संजय की बात बता दूं, पर बता नहीं सकी। सोचा, कहीं यह सब सुनकर वह दिलचस्पी लेना कम न कर दे। उसके आज-भर के प्रयत्नों से ही मुझे काफी उम्मीद हो चली थी। यह नौकरी मेरे लिए कितनी आवशयक है, मिल जाए तो संजय कितना प्रसन्न होगा हमारे विवाहित जीवन के आरम्भिक दिन कितने सुख में बीतेंगे!

शाम को हम घर लौटते हैं। मैं उसे बैठने को कहती हूँ, पर वह बैठता नहीं, बस खड़ा रहता है। उसके चौड़े ललाट पर पसीने की बूंदे चमक रही हैं। एकाएक ही मुझे लगता है, इस समय संजय होता तो? मैं अपने आंचल से उसका पसीना पोंछ देती, और वह ... वह क्या बिना बाँहों में भरे, बिना प्यार किए यों ही चला जाता?

"अच्छा, तो चलता हूँ।"

यन्त्रचालित-से मेरे हाथ जुड़ जाते हैं, वह लौट पड़ता है और मैं ठगी-सी देखती रहती हूं।

सोते समय मेरी आदत है कि मैं संजय के लाए फूलों को निहारती रहती हूँ। यहां वे फूल नहीं हैं तो बड़ा सूना-सूना-सा लग रहा है।

पता नहीं संजय, तुम इस समय क्या कर रहे हो! तीन दिन हो गए, किसी ने बाँहों में भरकर प्यार नहीं किया!

कलकत्ता

आज सवेरे मेरा इण्टरव्यू हो गया। मैं शायद नर्वस हो गई थी और जैसे उत्तर मुझे देने चाहिए वैसे नहीं दे पाई। पर निशीथ ने आकर बताया कि मेरा चुना जाना करीब-करीब तय हो गया है। मैं जानती हूँ, यह सब निशीथ की वजह से ही हुआ।

ढलते सूरज की धूप निशीथ के बायें गाल पर पड़ रही थी, और सामने बैठा निशीथ इतने दिन बाद एक बार फिर मुझे बड़ा प्यारा-सा लगा।

मैंने देखा, मुझसे ज्यादा वह प्रसन्न है। वह कभी किसी का एहसान नहीं लेता, पर मेरी खातिर उसने न जाने कितने लोगों का एहसान लिया। आखिर क्यों? क्या वह चाहता है कि मैं कलकत्ता आकर रहूं उसके साथ, उसके पास ? एक अजीब-सी पुलक से मेरा तन-मन सिहर उठता है। वह ऐसा क्यों चाहता है? उसका ऐसा चाहना बहुत गलत है, बहुत अनुचित है! ... मैं अपने मन को समझाती हूं, ऐसी कोई बात नहीं है, शायद वह केवल मेरे प्रति किए गए अपने अन्याय का प्रतिकार करने के लिए यह सब कर रहा

है! क्या वह समझता है कि उसकी मदद से नौकरी पाकर मैं उसे क्षमा कर दूँगी, या जो कुछ उसने किया है, उसे भूल जाऊंगी? असम्भव ! मैं कल ही उसे संजय की बात बता दूंगी।

"आज तो इस खुशी में पार्टी हो जाए!"

काम की बात के अलावा यह पहला वाक्य मैं उसके मुंह से सुनती हूँ। मैं इरा की ओर देखती हूं। वह प्रस्ताव का समर्थन करके भी मुन्नू की तबीयत का बहाना लेकर अपने को काट लेती है। अकेले जाना मुझे कुछ अटपटा-सा लगता है। अभी तक तो काम का बहाना लेकर घूम रही थी, पर अब? फिर भी मैं मना नहीं कर पाती। अन्दर जाकर तैयार होती हूँ। मुझे याद आता है, निशीथ को नीला रंग बहुत पसन्द था। मैं नीली साड़ी ही पहनती हूँ, बड़े चाव और सतर्कता से अपना प्रसाधन करती हूँ, और बार-बार अपने को टोकती जाती हूँ-किसको रिझाने के लिए यह सब हो रहा है? क्या यह निरा पागलपन नहीं है?

सीढ़ियों पर निशीथ हल्की-सी मुस्कराहट के साथ कहता है, "इस साड़ी में तुम बहुत सुन्दर लग रही हो।"

मेरा चेहरा तमतमा जाता है; कनपटियाँ सुर्ख हो जाती हैं। मैं सचमुच ही इस वाक्य के लिए तैयार नहीं थी। यह सदा चुप रहनेवाला निशीथ बोला भी तो ऐसी बात।

मुझे ऐसी बात सुनने की जरा भी आदत नहीं है। संजय न कभी मेरे कपड़ों पर ध्यान देता है, न ऐसी बातें करता है, जबकि उसे पूरा अधिकार है। और यह बिना अधिकार के ऐसी बातें करे! ...

पर जाने क्या है कि मैं उस पर नाराज नहीं हो पाती हूँ, बल्कि एक पुलकमय सिहरन महसूस करती हूँ। सच, संजय के मुँह से ऐसा वाक्य सुनने को मेरा मन तरसता रहता है, पर उसने कभी ऐसी बात नहीं की। पिछले ढाई साल से मैं संजय के साथ रह रही हूँ। रोज ही शाम को हम घूमने जाते हैं। कितनी ही बार मैंने श्रृंगार किया, अच्छे कपड़े पहने, पर प्रशंसा का एक शब्द भी उसके मुँह से नहीं सुना। इन बातों पर उसका ध्यान ही नहीं जाता; वह देखकर भी जैसे यह सब नहीं देख पाता। इस वाक्य को सुनने के लिए तरसता हुआ मेरा मन जैसे रस से नहा जाता है। पर निशीथ ने यह बात क्यों कही? उसे क्या अधिकार है?

क्या सचमुच ही उसे अधिकार नहीं है? .... नहीं है?

जाने कैसी मजबूरी है, कैसी विवशता है कि मैं इस बात का जवाब नहीं दे पाती हूँ। निश्चयात्मक दृढ़ता से नहीं कह पाती कि साथ चलते इस व्यक्ति को सचमुच ही मेरे विषय में ऐसी अवांछित बात करने का कोई अधिकार नहीं है।

हम दोनों टैक्सी में बैठते हैं। मैं सोचती हूँ, आज मैं इसे संजय की बात बता दूंगी।

"स्काई-रूम!" निशीथ टैक्सी वाले को आदेश देता है।

टुन की घण्टी के साथ मीटर डाउन होता है और टैक्सी हवा से बात करने लगती है। निशीथ बहुत सतर्कता से कोने में बैठा है, बीच में इतनी जगह छोड़कर कि यदि हिचकोला खाकर भी रुकें, तो हमारा स्पर्श न हो। हवा के झोंके से मेरी रेशमी साड़ी का पल्लू उसके समूचे बदन को स्पर्श करता हुआ उसकी गोदी में पड़कर फरफराता है। वह उसे हटाता नहीं है। मुझे लगता है, यह रेशमी सुवासित पल्लू उसके तन-मन को रस में भिगो रहा है, यह स्पर्श उसे पुलकित कर रहा है। मैं विजय के अकथनीय आह्लाद से भर जाती हूँ।

चाहकर भी मैं संजय की बात नहीं कह पाती। अपनी इस विवशता पर मुझे भी खीझ आती है, पर मेरा मुँह है कि खुलता ही नहीं। मुझे लगता है कि मैं जैसे कोई बहुत बड़ा अपराध कर रही होऊँ। पर फिर भी बात मैं नहीं कह सकती!

यह निशीथ कुछ बोलता ही नहीं? उसका यों कोने में दुबककर निर्विकार भाव से बैठे रहना मुझे कतई अच्छा नहीं लगता। एकाएक ही मुझे संजय की याद आने लगती है। इस समय वह यहाँ होता तो उसका हाथ मेरी कमर में लिपटा होता! यों सड़क पर ऐसी हरकतें मुझे स्वयं पसन्द नहीं, पर आज, जाने क्यों, किसी की बाँहों की लपेट के लिए मेरा मन ललक उठता है। मैं जानती हूँ कि जब निशीथ बगल में बैठा हो उस समय ऐसी इच्छा करना, या ऐसी बात सोचना भी कितना अनुचित है। पर मैं क्या करूँ? जितनी द्रुतगति से टैक्सी चली जा रही है मुझे लगता है, उतनी ही द्रुतगति से मैं भी बही जा रही हूँ, अनुचित, अवांछित दिशाओं की ओर!

टैक्सी झटका खाकर रुकती है तो मेरी चेतना लौटती है। मैं झटके से दाहिनी ओर का फाटक खोलकर कुछ इस तरह हड़बड़ी से उतर पड़ती हूँ, मानो अन्दर निशीथ मेरे साथ कोई बदतमीजी कर रहा हो।

"अजी, इधर से नहीं उतरना चाहिए कभी।" टैक्सीवाला कहता है तो अपनी गलती का भान होता है। उधर निशीथ खड़ा है, इधर मैं, बीच में टैक्सी!

पैसे लेकर टैक्सी चली जाती है तो हम दोनों एक-दूसरे के आमने-सामने हो जाते हैं। एकाएक ही मुझे खयाल आता है कि टैक्सी के पैसे आज तो मुझे देने चाहिए थे। पर अब क्या हो सकता था? चुपचाप हम दोनों अन्दर जाते हैं। आसपास बहुत कुछ है, चहल-पहल, रोशनी, रौनक। पर मेरे लिए जैसे सबका अस्तित्व ही मिट जाता है। मैं अपने को सबकी नजरों से ऐसे बचाकर चलती हूँ, मानो मैंने कोई अपराध कर डाला हो, और कोई मुझे पकड़ न ले।

क्या सचमुच ही मुझसे कोई अपराध हो गया है?

आमने-सामने हम दोनों बैठ जाते हैं। मैं होस्ट हूँ, फिर भी उसका पार्ट वही अदा कर रहा है। वही ऑर्डर देता है। बाहर की हलचल और उससे भी अधिक मन की हलचल में मैं अपने को खोया-खोया-सा महसूस करती हूँ।

हम दोनों के सामने बैरा कोल्ड कॉफी के गिलास और खाने का कुछ सामान रख जाता है। मुझे बार-बार लगता है कि निशीथ कुछ कहना चाह रहा है। मैं उसके होंठों की धड़कन तक महसूस करती हूँ। वह जल्दी से कॉफी का स्ट्रा मुँह से लगा लेता है।

मूर्ख कहीं का! वह सोचता है मैं बेवकूफ हूँ। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि इस समय वह क्या सोच रहा है।

तीन दिन तक साथ रहकर भी हमने उस प्रसंग को नहीं छेड़ा। शायद नौकरी की बात ही हमारे दिमागों पर छाई हुई थी। पर आज ... आज अवश्य ही वह बात आयेगी! न आए, यह कितना अस्वाभाविक है! पर नहीं, स्वाभाविक शायद यही है! तीन साल पहले जो अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया, उसे उलटकर देखने का साहस शायद हम दोनों में से किसी में नहीं है? जो सम्बन्ध टूट गये अब उन पर कौन बात करे? मैं तो कभी नहीं करूंगी। पर उसे तो करनी चाहिए। तोड़ा उसने था, बात भी वही आरंभ करे। मैं क्यों करूँ, और मुझे क्या पड़ी है! मैं तो जल्दी ही संजय से विवाह करने वाली हूँ। क्यों नहीं मैं इसे अभी संजय की बात बता देती? पर जाने कैसी विवशता है, जाने कैसा मोह है कि मैं मुँह नहीं खोल पाती। एकाएक मुझे लगता है जैसे उसने कुछ कहा।...

"आपने कुछ कहा है?"

"नहीं तो?"

मैं खिसिया जाती हूँ।

फिर वही मौन! खाने में मेरा जरा भी मन नहीं लग रहा है, पर यन्त्रचालित-सी मैं खा रही हूँ। शायद वह भी ऐसे ही खा रहा है। मुझे फिर लगता है कि उसके होंठ फड़क रहे हैं, और स्ट्रा पकड़े हुए उँगलियां काँप रही हैं। मैं जानती हूँ, वह पूछना चाहता है कि दीपा, तुमने मुझे माफ तो कर दिया न?

वह पूछ ही क्यों नहीं लेता? मान लो, यदि पूछ ही ले, तो क्या मैं कह सकूंगी कि मैं तुम्हें जिन्दगी-भर माफ नहीं कर सकती, मैं तुमसे नफरत करती हूँ, मैं तुम्हारे साथ घूम-फिर ली, या कॉफी पी ली, तो यह मत समझो कि मैं तुम्हारे विश्वासघात की बात को भूल गई हूँ?

और एकाएक ही सब-कुछ मेरी आँखों के आगे तैरने लगता है। पर यह क्या? असह्य अपमानजनित पीड़ा, क्रोध और कटुता क्यों नहीं याद आती? मेरे सामने पटना में गुजारी सुहानी संध्याओं और चांदनी रातों के वे चित्र उभर आते हैं, जब घंटों समीप बैठे, मौनभाव से हम एक-दूसरे को निहारा करते थे। बिना स्पर्श किये भी जाने कैसी मादकता तन-मन को विभोर किए रहती थी, जाने कैसी तन्मयता में हम डूबे रहते थे ... एक विचित्र सी, स्वप्निल दुनिया में! ... मैं कुछ बोलना भी चाहती तो वह मेरे मुँह पर उँगली रख कर कहता, आत्मीयता के ये क्षण अनकहे ही रहने दो, दीप!

आज भी तो हम मौन ही हैं, एक-दूसरे के निकट ही हैं। क्या आज भी हम आत्मीयता

के उन्हीं क्षणों में गुजर रहे हैं? मैं अपनी सारी शक्ति लगा कर चीख पड़ना चाहती हूँ, नहीं ! नहीं ! नहीं ! ... पर कॉफी सिप करने के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं कर पाती। मेरा यह विरोध हृदय की न जाने कौन-सी अतल गहराईयों में डूब जाता है!

निशीथ मुझे बिल नहीं देने देता। एक विचित्र-सी भावना मेरे मन में उठती है कि छीना-झपटी में किसी तरह मेरा हाथ इसके हाथ से छू जाये! मैं अपने स्पर्श से उसके मन के तारों को झनझना देना चाहती हूँ। पर वैसा अवसर नहीं आता। बिल वही देता है, मुझसे तो विरोध भी नहीं किया जाता।

मन में प्रचंड तूफान! पर फिर भी निर्विकार भाव से मैं टैक्सी में आकर बैठती हूँ ... फिर वही मौन, वही दूरी। पर जाने क्या है कि मुझे लगता है कि निशीथ मेरे बहुत निकट आ गया है, बहुत ही निकट! बार-बार मेरा मन करता है कि क्यों नहीं निशीथ मेरा हाथ पकड़ लेता, क्यों नहीं मेरे कंधे पर हाथ रख देता? मैं जरा भी बुरा नहीं मानूंगी, जरा भी नहीं! पर वह कुछ भी नहीं करता।

सोते समय रोज की तरह मैं आज भी संजय का ध्यान करते हुए ही सोना चाहती हूं, पर निशीथ है कि बार-बार संजय की आकृति को हटा कर स्वयं आ खड़ा होता है।...

कलकत्ता

अपनी मजबूरी पर खीझ-खीझ जाती हूँ। आज कितना अच्छा मौका था सारी बात बता देने का! पर मैं जाने कहां भटकी थी कि कुछ भी नहीं बता पाई।

शाम को निशीथ मुझे अपने साथ 'लेक' ले गया। पानी के किनारे हम घास पर बैठ गये। कुछ दूर पर काफी भीड़-भाड़ और चहल-पहल थी, पर यह स्थान अपेक्षाकृत शान्त था। सामने लेक के पानी में छोटी-छोटी लहरें उठ रही हैं। चारों ओर के वातावरण का कुछ विचित्र-सा भाव मन पर पड़ा था।

"अब तो तुम यहाँ आ जाओगी!" मेरी ओर देखकर उसने कहा।

"हाँ!"

नौकरी के बाद क्या इरादा है?

मैंने देखा, उसकी आँखों में कुछ जानने की आतुरता फैलती जा रही है, शायद कुछ कहने की भी। मुझसे जान कर वह अपनी बात कहेगा।

"कुछ नहीं!" जाने क्यों मैं यह कह गई। कोई है जो मुझे कचोटे डाल रहा है। क्यों नहीं मैं बता देती कि नौकरी के बाद मैं संजय से विवाह करूंगी, मैं संजय से प्रेम करती हूँ, वह भी मुझसे प्रेम करता है। वह बहुत अच्छा है, बहुत ही! वह मुझे तुम्हारी तरह धोखा नहीं देगा।

पर मैं कुछ भी तो नहीं कह पाती। अपनी इस बेबसी पर मेरी आँखें छलछला आती हैं। मैं दूसरी ओर मुँह फेर लेती हूँ।

"तुम्हारे यहां आने से मैं बहुत खुश हूँ!"

मेरी सांस जहां-की-तहां रुक जाती है आगे के शब्द सुनने के लिए। पर शब्द नहीं आते। बड़ी कातर, करुण और याचनाभरी दृष्टि से मैं उसे देखती हूँ, मानो कह रही होऊँ कि तुम कह क्यों नहीं देते निशीथ कि आज भी तुम मुझे प्यार करते हो, तुम मुझे सदा अपने पास रखना चाहते हो, जो कुछ हो गया है, उसे भूलकर तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो! कह दो, निशीथ, कह दो! ... यह सुनने के लिए मेरा मन अकुला रहा है, छटपटा रहा है। मैं बुरा नहीं मानूंगी, जरा-भी बुरा नहीं मानूंगी। मान ही कैसे सकती हूँ निशीथ! इतना सब हो जाने के बाद भी शायद मैं तुमसे प्यार करती हूँ-शायद नहीं, सचमुच ही मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। मैं जानती हूँ-तुम कुछ नहीं कहोगे, सदा के मितभाषी जो हो। फिर भी कुछ सुनने की आतुरता लिए मैं तुम्हारी तरफ देखती रहती हूँ। पर तुम्हारी नजर तो लेक के पानी पर जमी हुई है ... शान्त, मौन!

आत्मीयता के ये क्षण अनकहे भले ही रह जाएं पर अनबूझे नहीं रह सकते। तुम चाहे न कहो, पर मैं जानती हूँ, तुम मुझे आज भी प्यार करते हो, बहुत प्यार करते हो! मेरे कलकत्ता आ जाने के बाद इस टूटे सम्बन्ध को फिर से जोड़ने की बात ही तुम इस समय सोच रहे हो। तुम आज भी मुझे अपना ही समझते हो, तुम जानते हो, आज भी दीपा तुम्हारी है! ... और मैं?

लगता है, इस प्रश्न का उत्तर देने का साहस मुझमें नहीं है। मुझे डर है कि जिस आधार पर मैं तुमसे नफरत करती थी, उसी आधार पर कहीं मुझे अपने से नफरत न करनी पड़े।

लगता है, रात आधी से भी अधिक ढल गई है।

कानपुर

मन में उत्कट अभिलाषा होते हुए भी निशीथ की आवश्यक मीटिंग की बात सुनकर मैंने कह दिया था कि तुम स्टेशन मत आना। इरा आई थी, पर गाड़ी पर बिठा कर ही चली गई, या कहूँ कि मैंने जबर्दस्ती ही उसे भेज दिया। मैं जानती थी कि लाख मना करने पर भी निशीथ आएगा, और विदा के उन अन्तिम क्षणों में मैं उसके साथ अकेली ही रहना चाहती थी। मन में एक दबी-सी आशा थी कि चलते समय ही शायद वह कुछ कह दे।

गाड़ी चलने में जब दस मिनट रह गए तो देखा, बड़ी व्यग्रता से डिब्बों में झाँकता-झाँकता निशीथ आ रहा था ... पागल! उसे इतना तो समझना चाहिए कि उसकी प्रतीक्षा में मैं यहाँ बाहर खड़ी हूँ!

मैं दौड़कर उसके पास जाती हूँ, "आप क्यों आए?" पर मुझे उसका आना बड़ा अच्छा लगता है! वह बहुत थका हुआ लग रहा है। शायद सारा दिन बहुत व्यस्त रहा

और दौड़ता-दौड़ता मुझे सी-ऑफ करने यहाँ आ पहुँचा। मन करता है कुछ ऐसा करूँ, जिससे इसकी सारी थकान दूर हो जाए। पर क्या करूँ? हम डिब्बे के पास आ जाते हैं।

"जगह अच्छी मिल गई?" वह अन्दर झाँकते हुए पूछता है।

"हाँ!"

"पानी-वानी तो है?"

"है।"

"बिस्तर फैला लिया?"

मैं खीझ पड़ती हूँ। वह शायद समझ जाता है, सो चुप हो जाता है। हम दोनों एक क्षण को एक-दूसरे की ओर देखते हैं। मैं उसकी आँखों में विचित्र-सी छायाएं देखती हूँ, मानो कुछ है, जो उसके मन में घुट रहा है, उसे मथ रहा है, पर वह कह नहीं पा रहा है। वह क्यों नहीं कह देता, क्यों नहीं अपने मन की उस घुटन को हलका कर लेता?

"आज भीड़ विशेष नहीं है।" चारों ओर नजर डालकर वह कहता है।

मैं भी एक बार चारों ओर देख लेती हूँ, पर नजर मेरी बार-बार घड़ी पर ही जा रही है। जैसे-जैसे समय सरक रहा है, मेरा मन किसी गहरे अवसाद में डूब रहा है। मुझे कभी उस पर दया आती है तो कभी खीझ। गाड़ी चलने में केवल तीन मिनट बाकी रह गए हैं। एक बार फिर हमारी नजरें मिलती हैं।

"ऊपर चढ़ जाओ, अब गाड़ी चलने वाली है।"

बड़ी असहाय-सी नजर से मैं उसे देखती हूँ, मानो कह रही होऊँ, तुम्हीं चढ़ा दो।... और फिर धीरे-धीरे चढ़ जाती हूँ। दरवाजे पर मैं खड़ी हूँ और वह नीचे प्लेटफॉर्म पर।

"जाकर पहुँच की खबर देना। जैसे ही मुझे इधर कुछ निश्चित रूप से मालूम होगा, तुम्हें सूचना दूँगा।"

मैं कुछ बोलती नहीं, बस उसे देखती रहती हूँ।...

सीटी ... हरी झंडी ... फिर सीटी। मेरी आँखें छलछला आती हैं।

गाड़ी एक हल्के से झटके के साथ सरकने लगती है। वह गाड़ी के साथ कदम आगे बढ़ाता है और मेरे हाथ पर धीरे से अपना हाथ रख देता है। मेरा रोम-रोम सिहर उठता है। मन करता है चिल्ला पड़ूं - मैं सब समझ गई, निशीथ, सब समझ गई! जो कुछ तुम इन चार दिनों में नहीं कह पाए, वह तुम्हारे इस क्षणिक स्पर्श ने कह दिया। विश्वास करो, यदि तुम मेरे हो, तो मैं भी तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, एकमात्र तुम्हारी! ... पर मैं कुछ कह नहीं पाती, बस, साथ चलते निशीथ को देखती-भर रहती हूँ। गाड़ी के गति पकड़ते ही वह हाथ को जरा-सा दबाकर छोड़ देता है। मेरी छलछलाई हुई आँखें मुंद जाती हैं। मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, बाकी सब झूठ है, अपने को भूलने का, भरमाने का, छलने का असफल प्रयास है।

आँसू भरी आँखों से मैं प्लेटफार्म को पीछे छूटता हुआ देखती हूँ। सारी आकृतियाँ धुँधली-सी दिखाई देती हैं। असंख्य हिलते हुए हाथों को, निशीथ के हाथ को, उस हाथ को, जिसने मेरा हाथ पकड़ा था, ढूँढने का असफल प्रयास करती हूँ। गाड़ी प्लेटफार्म को पार कर जाती है, और दूर-दूर तक कलकत्ता की जगमगाती बत्तियाँ दिखाई देती हैं। धीरे-धीरे वे सब भी दूर हो जाती हैं, पीछे छूटती जाती हैं। मुझे लगता है, यह दैत्याकार ट्रेन मुझे मेरे अपने घर से कहीं दूर-दूर ले जा रही है - अनदेखी, अनजानी राहों में गुमराह करने के लिए, भटकाने के लिए!

बोझिल मन से मैं अपने फैलाए हुए बिस्तर पर लेट जाती हूँ। आँखे बन्द करते ही सबसे पहले मेरे सामने संजय का चित्र उभरता है। ... कानपुर जाकर मैं उसे क्या कहूँगी? इतने दिनों तक उसे छलती आई, अपने को छलती आई, पर अब नहीं। ... मैं उसे सारी बात समझा दूंगी। कहूँगी, संजय जिस सम्बन्ध को टूटा हुआ जानकर मैं भूल चुकी थी, उसकी जड़ें हृदय की किन अतल गहराइयों में जमी हुईं थीं, इसका एहसास कलकत्ता में निशीथ से मिलकर हुआ। याद आता है, तुम निशीथ को लेकर सदैव ही संदिग्ध रहते थे; पर तब मैं तुम्हें ईर्ष्यालु समझती थी, आज स्वीकार करती हूँ कि तुम जीते; मैं हारी!

सच मानना संजय, ढाई साल मैं स्वयं भ्रम में थी और तुम्हें भी भ्रम में डाल रखा था, पर आज भ्रम के, छलना के सारे ही जाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं। मैं आज भी निशीथ को प्यार करती हूँ। और यह जानने के बाद, एक दिन भी तुम्हारे साथ और छल करने का दुस्साहस कैसे करूँ। आज पहली बार मैंने अपने सम्बन्धों का विश्लेषण किया, तो जैसे सब-कुछ ही स्पष्ट हो गया; और जब मेरे सामने सब-कुछ स्पष्ट हो गया, तो तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊँगी, तुम्हारे सामने मैं चाहूँ तो भी झूठ नहीं बोल सकती।

आज लग रहा है, तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो भी भावना है वह प्यार की नहीं, केवल कृतज्ञता की है। तुमने मुझे उस समय सहारा दिया था, जब अपने पिता और निशीथ को खोकर मैं चूर-चूर हो चुकी थी। सारा संसार मुझे वीरान नजर आने लगा था, उस समय तुमने अपने स्नेहिल स्पर्श से मुझे जिला दिया; मेरा मुरझाया, मरा मन हरा हो उठा; मैं कृत-कृत्य हो उठी, और समझने लगी कि मैं तुमसे प्यार करती हूँ। पर प्यार की बेसुध घड़ियां, वे विभोर क्षण, तन्मयता के पल, जहां शब्द चुक जाते हैं, हमारे जीवन में कभी नहीं आये। तुम्हीं बताओ, आये कभी? तुम्हारे असंख्य आलिंगनों और चुम्बनों के बीच एक क्षण के लिए भी तो मैंने कभी तन-मन की सुध बिसरा देने वाली पुलक या मादकता का अनुभव नहीं किया।

सोचती हूँ, निशीथ के चले जाने के बाद मेरे जीवन में एक विराट शून्यता आ गई थी, एक खोखलापन आ गया था; तुमने उसकी पूर्ति की। तुम पूरक थे, मैं गलती से तुम्हें प्रियतम समझ बैठी।

मुझे क्षमा कर दो संजय, और लौट जाओ। तुम्हें मुझ जैसी अनेक दीपाएं मिल जाएंगीं, जो सचमुच ही तुम्हें प्रियतम की तरह प्यार करेंगीं। आज एक बात अच्छी तरह जान गई हूँ कि प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है; बाद में किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का, भरमाने का प्रयास-मात्र होता है ...

इसी तरह की असंख्य बातें मेरे दिमाग में आती हैं, जो मैं संजय से कहूँगी। कह सकूंगी यह सब? लेकिन कहना तो होगा ही। उसके साथ अब एक दिन भी छल नहीं कर सकती। मन में किसी और की आराधना करके तन से उसकी होने का अभिनय करती रहूँ? छिः। नहीं जानती, यही सब सोचते-सोचते मुझे कब नींद आ गई

लौटकर अपना कमरा खोलती हूँ, तो देखती हूँ, सब कुछ ज्यों-का-त्यों है, सिर्फ फूलदान के रजनीगंधा मुरझा गए हैं। कुछ फूल झरकर जमीन पर इधर-उधर भी बिखर गये हैं।

आगे बढ़ती हूँ तो जमीन पर पड़ा एक लिफाफा दिखाई देता है। संजय की लिखाई है; खोला तो छोटा-सा एक पत्र था:

दीपा,

तुमने तो कलकत्ता जाकर कोई सूचना नहीं दी। मैं आज आफिस के काम से कटक जा रहा हूँ। पाँच-छः दिन में लौट आऊँगा। तब तक तुम आ ही जाओगी। जानने को उत्सुक हूँ कि कलकत्ता में क्या हुआ।

तुम्हारा;
संजय।

एक लम्बा निःश्वास निकल जाता है। लगता है, एक बड़ा बोझ हट गया। इस अवधि में तो अपने को अच्छी तरह तैयार कर लूँगी।

नहा-धोकर सबसे पहले मैं निशीथ को पत्र लिखती हूँ। उसकी उपस्थिति में जो हिचक मेरे होंठ बन्द किए हुए थी, दूर रहकर वह अपने आप ही टूट जाती है। मैं स्पष्ट शब्दों में लिख देती हूँ कि चाहे उसने कुछ नहीं कहा, फिर भी मैं सब कुछ समझ गई हूँ। साथ-ही-साथ यह भी लिख देती हूँ कि मैं उसकी उस हरकत से बहुत दुखी थी, बहुत नाराज भी; पर उसे देखते ही जैसे सारा क्रोध बह गया। इस अपनत्व में क्रोध टिक भी कैसे पाता! लौटी हूँ तब से न जाने कैसी रंगीनी और मादकता मेरी आँखों के आगे छाई है ...!

एक खूबसूरत से लिफाफे में उसे बन्द करके मैं स्वयं पोस्ट करने जाती हूँ।

रात में सोती हूँ तो अनायास ही मेरी नजर सूने फूलदान पर जाती है। मैं करवट बदल कर सो जाती हूँ।

कानपुर

आज निशीथ को पत्र लिखे हुए चौथा दिन है। मैं तो कल ही उसके पत्र की राह

देख रही थी, पर आज की भी दोनों डाकें निकल गईं। जाने कैसा-कैसा, सूना-सूना, अनमना-अनमना लगता रहा सारा दिन! किसी भी काम में तो जी नहीं लगता। क्यों नहीं लौटती डाक से ही उत्तर दे दिया उसने? समझ में नहीं आता, कैसे समय गुजारूँ!

मैं बाहर बालकनी में जाकर खड़ी हो जाती हूँ। एकाएक ख्याल आता है, पिछले ढाई सालों से करीब इसी समय, यहीं खड़े होकर मैंने संजय की प्रतीक्षा की है। क्या आज मैं संजय की प्रतीक्षा कर रही हूँ? या मैं निशीथ के पत्र की प्रतीक्षा कर रही हूँ? शायद किसी की नहीं, क्योंकि जानती हूँ कि दोनों में से कोई भी नहीं आयेगा। फिर?

निरुद्देश्य-सी कमरे में लौट पड़ती हूँ। शाम का समय मुझसे घर में नहीं काटा जाता। रोज ही तो संजय के साथ घूमने निकल जाया करती थी। लगता है, यहीं बैठी रही तो दम ही घुट जायेगा। कमरा बन्द करके मैं अपने को धकेलती-सी सड़क पर ले आती हूँ।... शाम का धुंधलका मन के बोझ को और भी बढ़ा देता है। कहाँ जाऊँ? लगता है जैसे मेरी राहें भटक गई हैं, मंजिल खो गई है। मैं स्वयं नहीं जानती; आखिर मुझे जाना कहाँ है। फिर भी निरुद्देश्य-सी चलती रहती हूँ। पर आखिर कब तक यों भटकती रहूँ! हारकर लौट पड़ती हूँ।

कमरे पर आते ही मेहता साहब की बच्ची तार का एक लिफाफा देती है।

धड़कते दिल से मैं उसे खोलती हूँ। इरा का तार था।

नियुक्ति हो गई है। बधाई!

इतनी बड़ी खुशखबरी पाकर भी जाने क्या है कि खुश नहीं हो पाती। यह खबर तो निशीथ भेजनेवाला था। एकाएक ही एक विचार मन में आता है, क्या जो कुछ मैं सोच गई, वह निरा भ्रम ही था, मात्र मेरी कल्पना, मेरा अनुमान! नहीं-नहीं! उस स्पर्श को मैं भ्रम कैसे मान लूँ जिसने मेरे तन-मन को डुबो दिया था, जिसके द्वारा उसके हृदय की एक-एक परत मेरे सामने खुल गई थी? ... लेक पर बिताये उन मधुर क्षणों को कैसे भ्रम मान लूँ, जहाँ उसका मौन ही मुखरित होकर सब-कुछ कह गया था? आत्मीयता के अनकहे क्षण ! तो फिर उसने पत्र क्यों नहीं लिखा? क्या कल उसका पत्र आयेगा? क्या आज भी उसे वही हिचक रोके हुए है?

तभी सामने की घड़ी टन-टन करके नौ बजाती है। मैं उसे देखती हूँ। यह संजय की लाई हुई है।... लगता है, जैसे यह घड़ी घंटे सुना-सुनाकर मुझे संजय की याद दिला रही है। फरफराते ये हरे पर्दे, यह हरी बुक-रैक, यह टेबिल, यह फ़लदान सभी तो संजय के लाए हुए हैं। मेज पर रखा हुआ पैन उसने मुझे सालगिरह पर लाकर दिया था।

अपनी चेतना के बिखरे सूत्रों को समेटकर मैं फिर पढ़ने का प्रयास करती हूँ, पर पढ़ नहीं पाती। हारकर मैं पलंग पर लेट जाती हूँ।

सामने के फूलदान का सूनापन मेरे सामने मेरे मन के सूनेपन को और अधिक बढ़ा देता है। मैं कसकर आँखें मूँद लेती हूँ।... एक बार फिर मेरी आँखों के आगे लेक का

स्वच्छ, नीला जल उभर आता है, जिसमें छोटी-छोटी लहरें उठ रही थीं। उस जल की ओर देखते हुए निशीथ की आकृति उभर कर आती है। वह लाख जल की ओर देखे; पर चेहरे पर अंकित उसके मन की हलचल को मैं आज भी, इतनी दूर रहकर भी, महसूस करती हूँ। कुछ न कह पाने की मजबूरी, उसकी विवशता, उसकी घुटन आज भी मेरे सामने साकार हो उठती है। धीरे-धीरे लेक के पानी का विस्तार सिमटता जाता है, और एक छोटी-सी राइटिंग-टेबुल में बदल जाता है और मैं देखती हूँ कि एक हाथ में पेन लिये और दूसरे हाथ की उँगलियों को बालों में उलझाए निशीथ बैठा है...वही मजबूरी, वही विवशता, वही घुटन लिये।... वह चाहता है; पर जैसे लिख नहीं पाता। वह कोशिश करता है, पर उसका हाथ बस काँपकर रह जाता है।... ओह! लगता है, उसकी घुटन मेरा दम घोंटकर रख देगी।... मैं एकाएक ही आँखें खोल देती हूँ। वही फूलदान, पर्दे, मेज, घड़ी ...!

कानपुर

आखिर आज निशीथ का पत्र आ गया। धड़कते दिल से मैंने उसे खोला। इतना छोटा-सा पत्र!

प्रिय दीपा,

तुम अच्छी तरह पहुंच गई, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

तुम्हें अपनी नियुक्ति का तार तो मिल ही गया होगा। मैंने कल ही इरा जी को फोन करके सूचना दे दी थी, और उन्होंने बताया कि वे तार दे देंगी। आफिस की ओर से भी सूचना मिल जायेगी।

इस सफलता के लिए मेरी ओर से हार्दिक बधाई स्वीकार करना। सच, मैं बहुत खुश हूँ कि तुम्हें यह काम मिल गया! मेहनत सफल हो गई। शेष फिर।

शुभेच्छु,
निशीथ।

बस? धीरे-धीरे पत्र के सारे शब्द आँखों के आगे से लुप्त हो जाते हैं, रह जाता है केवल 'शेष फिर!'

तो अभी उसके पास 'कुछ' लिखने को शेष है? क्यों नहीं लिख दिया उसने अभी? क्या लिखेगा वह?

"दीप!"

मैं मुड़कर दरवाजे की ओर देखती हूँ। रजनीगंधा के ढेर सारे फूल लिए मुस्कराता-सा संजय खड़ा है। एक क्षण मैं संज्ञाशून्य-सी उसे इस तरह देखती हूँ, मानो पहचानने की कोशिश कर रही होऊँ। वह आगे बढ़ता है, तो मेरी खोई हुई चेतना लौटती है, और विक्षिप्त-सी दौड़कर मैं उससे लिपट जाती हूँ।

"क्या हो गया है तुम्हें, पागल हो गयी हो क्या?"

"तुम कहाँ चले गये थे संजय?" और मेरा स्वर टूट जाता है। अनायास ही आँखों से आँसू बह चलते हैं।

"क्या हो गया? कलकत्ता का काम नहीं मिला क्या? ... मारो भी गोली काम को। तुम इतनी परेशान क्यों हो रही हो उसके लिए?"

पर मुझसे नहीं बोला जाता। बस, मेरी बाँहों की जकड़ कसती जाती है, कसती जाती है। रजनीगंधा की महक धीरे-धीरे मेरे तन-मन पर छा जाती है। तभी मैं अपने भाल पर संजय के अधरों का स्पर्श महसूस करती हूँ, और मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था ...।

और हम दोनों एक-दूसरे के आलिंगन में बँधे रहते हैं-चुम्बित, प्रति-चुम्बित!

जो लिखा नहीं जाता

कमलेश्वर

हर आदमी अपने इतिहास के साथ कितना अकेला है...बार-बार यही बात ध्यान में आती है। और इसी बात के साथ याद आती है सुदर्शना। उसी ने तो कहा था उस दिन, "चन्दर! ये यादें भी हमें कहीं नहीं पहुंचातीं... कुछ ऐसा है मेरे पास, जो मैं किसी से नहीं कह सकती, इसीलिए तो इतनी अकेली हूं।"

"मुझसे नहीं कह सकती?" मैंने पूछा था।

"झूठ बोलने से खुश हो सको, तो जितना कहो, बताती जाऊं। लेकिन सच यही है कि कोई भी किसी से सब-कुछ नहीं बता सकता। हर जने के पास कुछ ऐसा है जो कभी कहा नहीं जाता, किसी से नहीं कहा जा सकता ..." कहते-कहते उसकी आंखों में परछाइयाँ-सी तैर आयी थीं और वह खिड़की के बाहर उड़ती धूल के बगूलों को देखती रह गयी थी।

मैं चुप बैठा रह गया था। स्थिति भी बड़ी अजीब थी। सारा घर उदासी की परतों में लिपटा हुआ था। जिस कमरे में हम बैठे थे, उसी के बगल वाले कमरे में टिके हुए थे सुदर्शना के पति - महेन्द्र।

सुबह चाय पर हम सब इकट्ठे हुए थे, तो महेन्द्र चुप थे। वही क्या, सभी चुप थे। चुप रहकर अपने भावों को छुपा सकने का मौका भी था। अगर सुदर्शना के पिता की मृत्यु-जैसी दुखद घटना न हुई होती, तो शायद मैं भी नहीं आता और न ही उसके पति महेन्द्र ही आते। अजीब बेबसी में लिपटे बैठे थे हम। हम तीनों, जो एक दूसरे को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे, भीतर-ही-भीतर एक-दूसरे से नफरत करते थे। साथ ही कहीं-न-कहीं पर इतने मजबूर थे कि आपस में खुलकर बात भी नहीं कर पाते थे।

इन पाँच सालों में, जब से सुदर्शना अपने पति को छोड़कर चली आयी थी, मैं महेन्द्र से नहीं मिला था। मिलने का सवाल भी नहीं था। पर महेन्द्र को हमेशा यही शक रहा कि सुदर्शना का इस तरह चले जाना सिर्फमेरे कारण हुआ है ...

और जब-जब मैं अपने बारे में सोचता हूं, तो चाहता हूं कि काश यही हुआ होता,

कुछ दिनों की बदनामी ही तो होती, पर सुदर्शना की आँखों की यह अमिट उदासी तो मिट जाती।

उसके पिता की मृत्यु पर जब महेन्द्र भी पहुंचा और मैं भी, तो लगा - जैसे हम दोनों ही सुदर्शना से कुछ मांगने आये हैं। मौत पर मातमपुर्सी के लिए आना तो जैसे एक बहाना हो। मेरी कोशिश रही थी कि मेरी करुणा का इजहार कहीं ज्यादा होकर बनावटी न लगने लगे...इसीलिए जब सुदर्शना के पिता की चिता में आग लगी, तो मैंने अपने आंसू जबर्दस्ती रोक लिए थे।

सफेद साड़ी में लिपटी, पीपलवाले चबूतरे पर बैठी, सुदर्शना मुंह में पल्ला दबाये फटी-फटी आंखों से देख रही थी। उसकी आंखों में पानी की परतें सूख गयी थीं और पुतलियों की कालिख धुल गयी थी। बाल बिखरे हुए थे और वह सामने फैले लम्बे श्मशान को देखते हुए भी कहीं नहीं देख रही थी। पीपल में नयी-नयी कोपलें फूटी थीं और उसके रेशमी हरे पत्तों की परछाईं उस पर पड़ रही थी .... उस पीपल से अजीब-सी हरी-हरी आभा बिखर रही थी और सुदर्शना एकदम अकेली उसके नीचे बैठी थी। हम दोनों ही वहां थे, पर शायद एक-दूसरे की वजह से कोई भी उसके पास सान्त्वना देने नहीं पहुंच पा रहा था।

जलती चिता से कुछ दूर सीमेंट की बेंच पर महेन्द्र बैठे थे और कंकड़ों के ढेर के पास मैं बैठा था। महेन्द्र के चेहरे पर आग की लपटों की तमतमाहट थी।

लोगों को भी कुछ अजीब ही लगा था - मृत्यु के इस क्षण में तो महेन्द्र को सुदर्शना के पास रहना चाहिए ... आखिर वह उसकी बीवी है। पाँच साल से अलग है, तो क्या हुआ? ऐसे मौकों पर तो यह नहीं होना चाहिए।

और चाहते हुए भी मैं सुदर्शना के कन्धों को पकड़कर सहारे का एक वाक्य नहीं कह सकता था, "सुदर्शना! पिताजी नहीं रहे तो क्या हुआ? मैं तो हूं ! घबराओ मत..."

मगर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। चिटक-चिटककर चिता जलती रही। पाँच ब्राह्मणों ने कपाल-क्रिया कर दी और अंगारे समेटकर हम लोग चुपचाप वापस चले आये। रास्ते भर कोई कुछ नहीं बोला। उड़ती धूल के बगूलों को देखते हुए हम सभी लौट आये थे।

दूसरे दिन फूल बीनने जाने की बात थी तो लोगों ने यही कहा था कि दामाद लड़के के बराबर होता है, वही जाये। सुदर्शना ने 'हां' या 'न' नहीं की थी, पर खुद नौकर को लेकर फूल बीनने के लिए चली गयी थी।

तीसरे दिन वहां रुकना मुझे खलने लगा था ... और वही झिझक शायद महेन्द्र को भी हुई थी। सुदर्शना जब बरामदे में कुर्सी डाले हताश-सी बैठी हुई थी, तो मैं यही कहने के लिए पहुंचा हुआ था कि " अच्छा, सुदर्शना, अब रात की गाड़ी से मैं चला जाऊं ..." तभी उधर से महेन्द्र आये थे और उन्हें आता देखकर मैं चुपचाप मुड़ गया था।

महेन्द्र आये तो सुदर्शना उठ कर खड़ी हो गयी थी, तब उन्होंने कहा था, "सोचता हूं, कल सुबह चला जाऊँगा।"

"क्यों ऐसी क्या बात है, एक दिन बाद चले जाइयेगा।" सुदर्शना ने कहा था, तो एकाएक मुझे धक्का लगा था। तो सुदर्शना महेन्द्र को रोकना चाह रही है ... हो सकता है कि अब दोनों किसी समझौते पर पहुंच जायें। शायद यही होगा, यही होना था। वह मकान को किराये पर उठा कर या बन्द करके महेन्द्र के साथ चली जायेगी ... और वे फिर साथ रहने लगेंगे। एक क्षण के लिए लगा था कि यह अच्छा ही हो रहा था। और अब है ही क्या उसके सामने? अकेले पिता थे, जिनके सहारे उसने इतना बड़ा कदम उठाया था ... अब तो वह नितान्त अकेली है ... और कर भी क्या सकती है?

और उसी वक्त अपने ठहरने का कोई भी औचित्य न पाकर मैंने बहुत सँभलते-सँभलते कहा था, " सुदर्शना, मैं रात की गाड़ी से जाना चाहता हूँ।"

"क्यों, एकाध दिन नहीं रुक सकते?"

उसके यह कहने ने मुझे और भी संकट में डाल दिया था। सोचा था कि दुख की छाया तले यह किस भँवर-जाल में फँसी है सुदर्शना? क्या वह अब बिल्कुल टूट गयी है भीतर से, और किसी एक को थाम लेना चाहती है ...?

हम दोनों ही रुके रहे, एक- दूसरे से अलग-थलग और कटे हुए ...।

... और उस घर में हम तीनों ही पुरानी यादों से जुड़े हुए थे। इसीलिए वहां रुकना और भी भारी पड़ता जा रहा था। यही घर तो था, जहां सुदर्शना के साथ रोज घंटों बिताया करता था। ... इसकी एक-एक दीवार मेरे प्रथम प्यार की साक्षी है ... उस दीवार का वह टुकड़ा अब भी वही था जिससे पीठ लगाये सुदर्शना खड़ी थी और मैंने उसे दोनों बाहों के घेरे में घेर लिया था । पहली बार। मैंने दीवार पर हाथ रख लिए थे, तब सुदर्शना ने शरमाते हुए कहा था, "ये बाहें ऐसे ही रहेंगी न ... यह दायरा मेरे लिए यों ही बना रहेगा हमेशा ... क्यों?" और मैं खड़ा मुस्कराता रहा था।

फिर इसी घर में धीरे-धीरे सब कुछ बदल गया था। एक दिन महेन्द्र दिखायी पड़े थे और तब से सबकुछ बदल गया था। घरवाले भी दूसरी तरह पेश आने लगे थे और तब वहां आते-जाते मैं अपमानित महसूस करने लगा था ... अब तो इन बातों को सोचकर हँसी-सी आती है। लेकिन इसके बावजूद उस चुभन को आज भी नहीं भुला पाता।

रास्ते बदल गये थे, और लगा था कि हम और सुदर्शना, दोनों एक-दूसरे को भूल ही गये हों। यही सोच लिया था कि उस वक्त का वह सम्बन्ध एक बचपना था ... दोनों ने अपने को समझा लिया था।

सुदर्शना अपने पति के साथ बहुत खुश थी। और जब पहली बार सुदर्शना और महेन्द्र मुझे मिले थे, तो सुदर्शना की आँखों में पहली पहचान की धुँधली-सी तस्वीर उभरी

थी। पर महेन्द्र के चेहरे पर जीत-ही-जीत थी। एक हर्ष था ... और तब मैंने अपने आप को और भी पिटा हुआ महसूस किया था।

"आपकी बातें कभी-कभी हमारे घर में होती रहती हैं," महेन्द्र ने हाथ मिलाने के बाद कहा था, "वैसे तो हमें अपनी बातों से ही फुरसत नहीं मिलती, हम दोनों ही बहुत बातूनी हैं।" कहकर वह हंस दिया था। मैं सब्र करके बात को पी गया था, पर आँखों-ही-आँखों में मैंने सुदर्शना से पूछना चाहा था, "अब मेरा यह अपमान क्यों किया जा रहा है ...? अपने पति की बात का व्यंग्य समझ रही हो न?" सुदर्शना ने महेन्द्र की बात के डंक को पहचाना था और नासमझी में इसी बात के घाव को और गहरा कर दिया था, "आपकी अच्छी बातें ही हम करते हैं।"

"मैं समझा नहीं कि अच्छी बातें क्या होती हैं?" बेहद कठिनाई से मुस्कराते हुए मैंने पूछा था, लेकिन कोई जवाब नहीं मिला था। सुदर्शना और महेन्द्र कहीं और जाने की जल्दी में चले गये थे।

तकलीफ तो हुई थी मुझे, पर कहीं यह भी भला लगा था कि दोनों बहुत खुश हैं ...

फिर बहुत-सी बातें सुनायी पड़ती थीं ... उन दोनों की सफलताओं की ... यह कि बहुत खूबसूरत घर बसा लिया है उन्होंने, कार खरीद ली है और तीन-तीन नौकर रख लिए हैं। सब आराम मुहैया कर लिए हैं उन्होंने। घर पर उनके सैर-सपाटों की खबरें आती थीं, लम्बे-लम्बे खतों में उन जगहों के वर्णन आते थे जहां वे घूमकर आते थे। पिक्चर-पोस्टकार्डों पर उनकी लिखीं लाइनें आती थीं। डाक-पार्सलों में उपहार आते थे ...

उन्हीं दिनों के बाद एक बार सुदर्शना घर आयी थी। पता नहीं क्यों, बिना किसी खबर के आयी थी। कुछ देर के लिए मुलाकात हुई थी-और तब वह अपने घुमड़ते दुःख को दबा नहीं पायी थी। धीरे से बोली थी, "आदमी बहुत शक्की होते हैं न !"

"क्यों?"

पता नहीं किस विश्वास के तहत उस क्षण वह अपनी बातें बता गयी थी। "देखो चन्दर, मैं घर में भी किसी से कह नहीं सकती, पर तुमसे कहते संकोच नहीं होता...दुःख तो मुझे कोई नहीं है, पर लगता है कि अब आगे और नहीं चला जा सकता।"

"बात क्या है, सुदर्शना? शायद कह देने से तुम्हारे मन का बोझ कम हो जाए ..." मैंने कहा था।

"कुछ भी नहीं, छोटी-सी बात थी। एक दिन होटल के कमरे में हम दोनों ही अतीत को याद करने बैठ गये थे। मैं इनके सीने पर सिर रखे थी और इनका हाथ मेरे कन्धों पर था ... तब इन्होंने अपने एक भूले हुए प्यार की दास्तान सुनायी थी। मैंने बहुत मजा ले-लेकर सुनी थी और कहीं बहुत भीतर मैं गर्व का अनुभव कर रही थी कि मैंने इन्हें जीत लिया। इसके बाद बहुत प्यार से इन्होंने पूछा था, 'दर्शी! तुमने भी किसी को चाहा होगा?"

"उस वक्त मैं झूठ भी बोल सकती थी, पर हम सच्चाइयों के नजदीक थे और बहुत खुलकर बातें कर रहे थे ... सब कुछ स्वीकार लेने के मूड में थे। और तब मैंने इन्हें तुम्हारे बारे में कुछ बताया था ... यही कि तुम मुझे बहुत चाहते थे, इसीलिए अब तक शादी नहीं की ... सच, उस क्षण मुझे एक अजीब-सी तृप्ति मिली थी, यह सोचकर कि तुम अभी तक मुझे याद करते हो ..."

"फिर इन्होंने खोद-खोद कर कुछ और बातें पूछी थीं और मैं अपनी रौ में सब-कुछ बताती गयी थी। और कुछ देर बाद मैंने महसूस किया था कि हम दोनों के बीच एक और कोई 'तीसरा' अनजाने ही आ गया है ..."

"मुझे पता भी नहीं चला कि कब इनकी बाँह मेरी पीठ से खिसक गयी और कब मेरा सिर इनके सीने से हटकर तकिये पर आ गया। हम दोनों अनजाने ही एक-दूसरे के स्पर्शों की परिधि से बाहर आ गये थे ..."

"तभी से वह तीसरा आदमी हम दोनों के बीच बराबर रहता है ... सच पूछो तो वह तुम भी नहीं हो। मेरे लिए कभी-कभी वह तीसरा आदमी तुम्हारी शक्ल में बदल जाता है और इनके लिए उस तीसरे आदमी का नाम तुम्हारा नाम बन जाता है।"

"और यह परछाईं हर वक्त हमारे बीच रहती है ..." कहते हुए सुदर्शना की आँखें भर आयीं थीं।

"यह परछाईं तुम्हें बहुत सता रही है?"

"तकलीफदेह बात यह है कि शायद हम दोनों बहुत अच्छे हैं ... हमें एक-दूसरे से कोई शिकायत नहीं है, पर अब हम खुलकर बात नहीं कर पाते ... कभी मैं अपनी भावनाओं में भरकर इनसे बात भी करती हूं, तो इनकी नजरों में एक शक तैरता दिखायी देता है... मेरी हर बात, हर भावना का अर्थ ही बदल गया है इनके लिए ... समझ में नहीं आता कि ऐसे कैसे चलेगा ..."

इतनी ही बात हुई उस बार सुदर्शना से। मेरा मन आशंकाओं से भर गया था। लगता था, टूटने की स्थिति बहुत नजदीक आती जा रही थी। मेरा मन उदास हो गया था और बहुत सँभलकर मैंने कहा था, "मैं तो समझता था कि तुम बहुत खुश हो ... पर आज बड़ी चोट लगी यह सब जानकर ... लेकिन मैं तुम्हें राय भी क्या दे सकता हूं, सुदर्शना? ऐसी स्थिति में भी नहीं। अपनी-अपनी जिंदगियों का संतुलन हर व्यक्ति अलग-अलग ही खोजता है ... अपने बारे में अपने से बेहतर और कोई नहीं जानता ..."

"क्या बताऊँ, चन्दर ... लगता है ... ज्वार उतर गया, गीले तटों पर घोंघे और फेन बाकी रह गये हैं ... धीरे-धीरे ये गीले तट सूख-सूखकर चटख जायेंगे ..."

"कर तो मैं कुछ नहीं सकता, सुदर्शना, पर अन्दर-ही-अन्दर घुटता हूँ तुम्हारे लिए। तुम्हारे लिए तो खैर मेरा उतना भी वजूद नहीं है।"

"कैसी बातें करते हो ! वह तो नियति थी जो बहा ले गयी ... जिसे मैंने अर्थ देकर

अपने को शायद छलना चाहा था, अब वही नियति मुझे छल रही है ..." सुदर्शना की आँखों में आंसू छलक आये थे और उसने दोनों हथेलियां पसारकर पूछा था, "अब तो बता दो, इनमें और क्या लिखा है?"

"इनमें कुछ भी नहीं लिखा है, सुदर्शना!"

"मैं वापस चली जाऊँ, और क्या करूँगी?"

"कहीं नौकरी कर लो तो कुछ मन बदल जायेगा। व्यस्त रहोगी, तो कुछ-कुछ भूल सकोगी।"

मेरी बात सुन कर वह हंस दी थी, "इतना तो मैं भी जानती हूँ। लेकिन यह हल तो नहीं है ... सुनो, कुछ और बताओ, चन्दर ..." बहुत बेबसी में सुदर्शना ने कहा था; पर मेरे पास बताने के लिए जैसे कुछ था ही नहीं।

चलते वक्त मैंने इतना ही कहा था, "कभी खबर ही दे दिया करो ... सुख-दुख लिख दिया करो ..."

और वह वापस चली गयी थी। फिर एक दौर खुशियों का चला था, फिर उसके घर से वैसे ही पत्र आये थे; पर उतने लम्बे नहीं। लगता था, जैसे वह खत लिख-लिखकर अपनी खोई हुई खुशियों को दुबारा पा लेने की नाकाम कोशिशों में लगी हुई थी।

एक और ज्वार आकर उतर गया था ... पाँच साल पहले वह अपने पिता के पास लौटी थी, तो फिर वह वापस नहीं गयी। पहले तो लोगों को उसके पिता ने यही बताया कि महेन्द्र किसी ट्रेनिंग के सिलसिले में एक साल के लिए विदेश जा रहा है। इसलिए सुदर्शना यहीं मेरे पास रहेगी ... पर एक के बाद एक कर जब चार साल गुजर गये तो लोगों ने कानाफूसी करके स्थिति को स्वीकार लिया था।

पर मैं इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर पा रहा था। एक बार खास-तौर से मैं उसी के लिए आया था और घुमा-फिराकर सुदर्शना से उसके चले आने का कारण पूछा था।

तब तक वह शायद बहुत-कुछ उबर चुकी थी। धीरे से मुस्कराकर बोली थी, "कोई खास वजह तो नहीं ... यही समझ लो कि हम दोनों बहुत अच्छे हैं और एक-दूसरे को तकलीफ नहीं दे सकते। और हमारी यातना भी ऐसी है जिसे हम साथ-साथ खुलकर भोग भी नहीं सकते ..." कहते हुए उसने जूड़े के पिन निकाल लिए थे और एक पिन से लॉन की धरती पर लकीरें खींचती रही थी।

चारों तरफ एक अजीब-सी बेबसी व्याप रही थी। शाम का धुंधलका गहराता जा रहा था। पेड़ निस्तब्ध खड़े थे; घर की इमारत में अंधेरा बेतरह भरता जा रहा था। सुदर्शना के पिताजी बरामदे की बिजली जलाकर भीतर चले गए थे। पता नहीं, सुदर्शना ने क्या महसूस किया था, धीरे से बोली थी, "अब तो अंधेरा और बढ़ गया है ... आओ, बरामदे में चलें।"

नहीं पता कि सुदर्शना ने यह पाँच वर्षों का वक्त कैसे गुजारा, क्योंकि घर में उसके पिता को छोड़कर और कोई था ही नहीं। पिता और पुत्री-यही दो जने थे।

और जब उसके पिता की मृत्यु की खबर मिली, तो मैं बहुत परेशान हुआ था ... अन्दरूनी परेशानी यह थी कि अब सुदर्शना का क्या होगा? वह कहां जायेगी? शायद वापस महेन्द्र के पास। और चारा भी क्या है? चलते वक्त उम्मीद तो नहीं थी कि महेन्द्र आयेंगे; पर पहुंचा तो वह मौजूद थे। क्रिया-कर्म के वक्त उन दोनों को पुनः विकसित होने वाले रिश्तों का एहसास होने लगा था। शायद सुदर्शना ने जान-बूझ कर उन्हें कुछ नहीं करने दिया था। शायद वह चाहती थी कि अपने अकेलेपन का दायरा तोड़ कर महेन्द्र ही हाथ बढ़ा दे, इसीलिए उस दोपहर जब बगल वाले कमरे में महेन्द्र थे और हम बैठे बात कर रहे थे, तो मैंने उससे कहा था, "कब जा रही हो तुम?"

"कहां?"

मैं मुस्करा दिया था। वह भी मुस्करायी थी और फिर उदास होते हुए बोली थी, "यहां और वहां में क्या फर्क है? यहां यह दुख है कि मैं बीत रही हूँ वहां यह कि मुझे बीतना पड़ता है।"

"वह सब तो सही है, फिर भी कोई राह तो निकले अपने लिए। शायद महेन्द्र इसीलिए आये हैं।"

"तुम किसलिए आये हो!" उसने एकदम पूछा था।

कुछ देर के लिए सन्नाटा छा गया था। वह फिर खिड़की के बाहर उठते हुए धूल के बगूलों को देखने लगी थी। उसके माथे पर पसीना छलछला आया था और बालों के रोएँ चिपक गये थे। उसकी सांस भारी हो गयी थी।

कुछ क्षणों की खामोशी के बाद उसने कहा था, "देखो, सब-कुछ सबसे नहीं कहा जा सकता। इतना खुलकर जिंदगी में नहीं रहा जा सकता। कुछ खूबसूरत फरेब शायद जरूरी होते हैं ..."

जितना ही मैं उसे समझाने की कोशिश करता था उतना ही वह उलझती जा रही थी। वह बोझिल दिन भी जैसे-तैसे गुजर गया था। महेन्द्र शाम तक अपने कमरे में ही बन्द रहे थे।

दूसरी सुबह वह जाने वाले थे। रात को खाना खाने के बाद मैं अपने कमरे में चला गया था। महेन्द्र के कमरे से रात में कुछ आहटें आती रही थीं-कुछ बातों की सिसकियों और खामोशियों की। वह रात असमंजस की रात थी।

सुबह सब कुछ शांत था। मैं बाथरूम से निकला था तो सुदर्शना महेन्द्र के कमरे से निकल कर अपने कमरे में जा रही थी। बहुत अलसायी-सी और अस्तव्यस्त-सी। और दस बजे की गाड़ी से महेन्द्र के चले जाने के बाद मैं अपने को बड़ी ही बेढंगी-सी स्थिति में पा रहा था। जी में आ रहा था कि सुदर्शना से कहूं, "तुमने यह अपने दुख को दार्शनिक

खोल क्यों पहना रखा है? तुम्हें इसी में रस मिलता है ...?" क्योंकि मुझे लग रहा था कि सुदर्शना उसी तरह अस्तव्यस्त और दुखों की मूर्ति बनी मेरे सामने आयेगी।

एक बजे मेरे दरवाजे पर दस्तक हुई। बाहर निकला तो देखा कि सुदर्शना सजी-सँवरी खड़ी है - ठीक वैसी ही जैसी कि दस साल पहले थी। लगता था,जैसे वक्त लौट आया हो और फिर एक इतिहास वहीं से शुरू होने जा रहा हो ... उसी बिन्दु से, जहां से घटनाओं ने मोड़ लिया था।

"चलो कहीं बाहर खाना खाने चलेंगे। जल्दी से तैयार हो जाओ..."

खाना खाते वक्त हमने वह सब याद किया था, जो हमें जोड़ता था। अगर हम साथ होते तो क्या होता? जिन्दगी के किन मूल्यों से जुड़े होते? ... फिर उसी प्यार की परछाइयां आँखों में उभरी थीं और लगा था कि कुछ बन रहा है।

दोपहर को वापस आकर जैसे हम भूल गये थे कि कुछ दिनों पहले एक मौत की छाया वहां मंडरा रही थी और सब कुछ एक गहरी करुणा के क्रम में आबद्ध था।

शाम को जब मैंने बाकी तैयारी शुरू की तो लग रहा था कि सुदर्शना आकर रोकेगी; परेशान करेगी, पर ऐसा हुआ नहीं। गाड़ी का वक्त होने से पहले वह कमरे में आयी थी और बोली थी,"मैं स्टेशन छोड़ने चलूंगी।"

रास्ते में बहुत झिझकते हुए मैंने इतना ही कहा था, "सुदर्शना, अब कुछ सोच लो डियर, अपनी बात नहीं करता पर ..."

"सुनो, चन्दर लगता है अब कुछ होगा नहीं। मैं मन से बड़ी असमर्थ हो गयी हूं। कुछ भी स्वीकार करने की सामर्थ्य ही नहीं रही है ..."

"सब-कुछ एक बार कह डालो, सुदर्शना ..."

"यही तो मुमकिन नहीं है। कौन है ऐसा जिसने अपना सब-कुछ कह डाला हो। दस बातें हैं, जो सिर्फमेरी हैं, तुम्हें उनमें से शायद तीन ही बता पाऊँगी, बाकी नहीं; कोई और मिलेगा, उसे शायद चार बता पाऊँ ... किसी और को शायद एक और बता दूं, पर ऐसा तो कोई नहीं, जिसे सब कुछ बताया जा सके। जो बताने से बच जाता है, वही बहुत अकेला कर जाता है ... नितान्त अकेलापन भर जाता है चारों तरफ। सबकी यही मजबूरी है चन्दर!" कहते हुए उसने हाथ पकड़ लिया था। उसकी पसीजी हुई उँगलियां थरथरा रही थीं। फिर बोली थी, "खत लिखूंगी तुम्हें, पर और कुछ मत समझना।"

मैं चला आया था। वह प्लेटफार्म के अंधेरे में धीरे-धीरे डूब गयी थी ...

कुछ दिन पहले उसका लिफाफा आया था-ऊपर लिखा हुआ पता उसी की लिखावट में था और मुहर भी उसी के शहर की थी। लिफाफे के भीतर सिर्फअनलिखा कागज था ... जिसमें मोड़ के निशानों के अलावा कुछ भी नहीं था।

राम सजीवन की प्रेम कथा

उदय प्रकाश

जहां कई वर्ष पहले गांव था और जहां बैलों के तेल-चुपड़े भोले-काले सींग थे, दोपहर जंगल में पत्तों की गहरी हरी गंध थी और कच्चे आम के ताजा कटे फांक के साथ नमक मिर्च का स्वाद था, धान के महकते हरे खेत थे, जहां अंधी बुढ़िया महराजिन थी जिसकी बारी से लड़के खीरा और भुट्टा चुरा लाते थे-राम सजीवन का बचपन वहीं पीछे कहीं छूट गया था, पंद्रह साल पीछे।

उनका बचपन सनई के उन खेतों में कहीं रह गया था, जहां वे स्कूल न जाकर छिप जाते थे और दूसरे लड़कों के साथ गदा छाप बीड़ी के सुट्टे खींचते थे।

ब्राह्मण परिवार था। मंझला किसान वर्ग, एक ऐसा किसान वर्ग जिसकी गांव में नाक नीची नहीं रहती, जो गाहे-ब-गाहे बड़े किसान या जमींदार को भी छोटा-मोटा कर्ज दे सकता है या पेशी कचहरी में हजार-दो हजार खर्च सकता है, हलवालों और भूमिहीनों को तो गल्ला-अनाज वह बीज-बीजहरा या खवाई-नातवानी के लिए सवैया-ड्योढ़ा बाढ़ी की दर पर दे ही सकता है।

एक ऐसा किसान परिवार जहां गांव के जमींदार के घर आया हुआ पटवारी लौटते हुए एक बार झांक कर चाय-पान ले जाता है, थोड़ी बहुत हंसी-ठिठोली भी कर जाता है।

राम सजीवन पास के कस्बे के हाई स्कूल और पास के शहर के शासकीय महाविद्यालय को प्रथम श्रेणी से लांघते हुए अब दिल्ली के उस विश्वविद्यालय तक आ पहुंचे थे, जो देश का माना हुआ ही नहीं, कहा जाता था कि अफ्रीका, दक्षिणी एशिया तो क्या पूरी तीसरी दुनिया का सबसे भव्य विश्वविद्यालय था। इस विश्वविद्यालय में प्रधानमंत्री की बहू, रक्षामंत्री की नातिन, किर्लोस्करजी की बेटी, बाटाजी का बेटा और देश के सबसे बड़े साहित्यकार का सबसे छोटा साला पढ़ता था।

यहां ज्यादातर लड़के-लड़कियों की सभ्यता और मिजाज का अपना ही ढंग था। वे बड़े कोमल, पारदर्शी और खास लगते। हंसते तो इतना उजाला फैलता कि गांव की हंसी तंबाकू और कत्थे में लिथड़ी किसी वीभत्स रुदन की तरह दिखायी देती।

और लड़कियों का तो कहना ही क्या। उनका अलग ही तापमान और अलग ही रोशनी थी। वे ज्यादातर जीन्स और खुली बाहोंवाली होतीं। उन्हें बहुत साफ सफेद आटे को गूंथकर, उसमें थोड़ा महावर मिलाकर बनाया गया था। खुली बाहों, बारीक आवाजों, घंटियों जैसी हंसी का ऐसा विराट उत्सव राम सजीवन को अपने जीवन के प्रति एक बार नये सिरे से दार्शनिक हो जाने की प्रेरणा देता था। वे चाहे बस में हों या अपने अकेले कमरे में, सांस भी लेते तो उसके साथ वू डू या इंटिमेट की महक उनके रक्त तक पहुंचती। इस खुशबू में कान्वेंट पसीने की बहुत अपरिचित लेकिन उत्तेजित गंध घुली होती।

लेकिन, राम सजीवन के भीतर एक गहरी चिढ़ और गुस्से ने भी जगह बनाना शुरू कर दिया। इस विराट लकदक शहर में, जहां इतनी बड़ी दुकानों, कोठियों, कारों की चमाचम धूप थी, उन्हें अपने गांव का बड़े-से-बड़ा किसान भी कुली-कबाड़ी दिखायी देता। अपने टेरिकोट के कपड़े उन्हें सस्ते, मैले और पिछड़े हुए लगते। अपने चेहरे में गाल की हड्डियों का नुकीला उभार, मोटे होंठ, धूप और धूल को झेलकर जिंदा और चौकन्नी बन गयीं आंखें, तिल और सरसों के तेल को पीकर मोटे और काले हो गये बाल- सब उन्हें गंवारू लगते। वे काले तो नहीं थे। फिर भी उन्हें लगता था कि उनके गेहुंए रंग से गांव का मटैलापन कभी छूट नहीं सकता।

दिल्ली एक ऐसा महानगर था जिसमें रुपयों की नदी कहावत के बाहर बहती थी। दूसरा कोई इतना बड़ा शहर राम सजीवन ने देखा भी नहीं था। एक बार, जब वे बिल्कुल नये थे, एक लड़के से उन्होंने उसके जूते की कीमत पूछी, दो सौ अड़सठ रुपये सुनकर वह जूता उन्हें एक क्विंटल गेहूं के बोरे में बदलता दिखने लगा। फिर तो उनके देखने का यह गोपनीय तरीका ही हो गया। अर्थशास्त्र के माल-मुद्रा वाले नियम के अनुसार वे चीजों को किसी भी अनाज के समान मूल्य को मात्रा में बदल देते। उन्हें बहुत मजा आता। इस आदमी ने कुल मिलाकर तीन क्विंटल धान पहन रखा है। इस लड़की ने पचास किलोग्राम अलसी अपनी कलाई में लपेट रखी है। मकान का किराया साढ़े तीन क्विंटल गेहूं हर महीने, बिजली-पानी अलग और वो देखो, वो साला हीरो बीस एकड़ की कुल पैदावार पर चढ़ा हुआ, हार्न बजाता भगा जा रहा है।

लेकिन यह सब कुछ एक रोचक मनोरंजक खेल ही नहीं था। यह बहुत गंभीर और पीड़ादायक था। गांव का मंझला किसान वर्ग शहर के निचले मंझले वर्ग से भी नीची कोटि का साबित हो रहा था। किसी दफ्तर का छोटा-मोटा बाबू भी जीवन स्तर और सभ्यता के लिहाज से ज्यादा कुलीन और चमकदार दिखायी देता था।

राम सजीवन के दिमाग में सामाजिक समानता के लिए एक उत्कट आकांक्षा जागने लगी। यह सब कुछ अन्यायपूर्ण है, गलत है। इस देश की सत्तर प्रतिशत जनता को जिंदा रहने के लिए जितने कैलोरी शक्ति की जरूरत है, उतना भी अन्न नहीं खा पाती, और दूसरा साढ़े तीन क्विंटल गेहूं की शराब एक बैठक में पी जाता है! राम सजीवन को

पुरानी दिल्ली के जामा मस्जिदवाले इलाके के फुटपाथों पर, पुलिया के नीचे अपने गांव के लोग दिखायी देते - उतने ही गरीब, उतने ही मैले, उतने ही भूखे। 'क्रांति की जरूरत है' बाबू राम सजीवन ने सोचा।

यह उन्हीं दिनों की बात है जब बंगाल के उत्तरी-पूर्वी इलाके, दक्षिण में आंध्रप्रदेश और बिहार-उत्तर प्रदेश के भोजपुर इलाकों में भूमिहीन और छोटे किसान मिलकर आंदोलन छेड़ चुके थे। उन्हें मुठभेड़ों में मारा जा रहा था, जेलों में भरा जा रहा था। सरेआम उनकी आंखें फोड़ी जा रही थीं और अखबारों के पन्नों में ऐसी खबरें भरी रहती थीं।

राम सजीवन को लगा कि उनके मन में बचपन से ही गरीबों और असहायों के लिए गहरी करुणा रही है। उन्हें कई घटनाएं ऐसी याद आयीं जब वे अपने घर से मक्का और चावल चुराकर कोलों के घर में दे आते थे, जहां कई दिनों से चूल्हा नहीं जला होता था। अपने पुराने कपड़े तो वे गांव के लड़कों को दे ही देते थे।

मेधा और प्रतिभा राम सजीवन में तेज थी। उन्होंने समाज को जानने-समझने के लिए तरह-तरह की किताबें पढ़नी शुरू कीं 'पूंजी' पढ़ डाली, 'एंटी ड्यूहरिंग', 'एट्टींथ ब्रुमेर ऑफ लुई बोनापार्ट', 'होली फेमिली' से लेकर लेनिन और माओ के विचारों का अध्ययन किया, और धीरे-धीरे समाज का एक खूब साफ नक्शा दिमाग में बनने लगा।

लेकिन गांव छोड़े दस साल हो रहे थे। फैलोशिप मिलती थी, इसलिए वहां जाने की जरूरत कभी हुई नहीं और धीरे-धीरे गांव के लोगों के मटैले और ठोस चेहरे उनके दिमाग में धुंधले और अमूर्त होने लगे। खेत गायब हुए, चीजों के गल्ले में बदलकर देखने का पुराना किसानी ढर्रा बिसर गया। हलवाहों के पसीने की जानी-पहचानी गंध, बकरियों की बू के साथ पता नहीं कहां उड़ गयी। अब उनके दिमाग में समाज की वर्गीय बनावट तो साफ थी, लेकिन लोगों के चेहरे गायब हो चुके थे।

विश्वविद्यालय का हॉस्टल था, जिसमें सजीवन रहते थे। जीन्स पहनते थे, उसके ऊपर कुर्त्ता और दाढ़ी, चश्मा लगाने लगे थे। संगठन में सक्रिय थे और संगठन के कार्यकर्ता उन्हें बहुत बड़ा चिंतक और लेखक मानते थे। राम सजीवन तीसरी दुनिया के सबसे आधुनिक विश्वविद्यालय में रहते हुए अवध के किसान आंदोलन पर डी. लिट कर रहे थे।

राम सजीवन का कमरा भी देखने लायक था। उसमें कभी झाड़ू नहीं लगती थी, गर्द और मकड़ी के जालों के बीच कुछ किताबें और अखबार बिखरे रहते। रजाई पुरानी थी और जब वे सोते तो उसकी रूई उनकी दाढ़ी और बालों में उलझ जाती। वे बारह बजे सोकर उठते, कमरे में ही ज्यादातर रहते और समाज के बारे में लेख आदि लिखा करते। फैलोशिप इस बीच मियाद पूरी हो जाने के कारण बंद हो गयी थी इसलिए आर्थिक अड़ंगा पैदा हो रहा था। जितनी ही आर्थिक दिक्कत आती, राम सजीवन खुद को

जनता के और निकट पाते। उनके लेखों में असमानता के खिलाफ आग और तेज हो उठती। उन्होंने हॉस्टल के कमरे में रहते हुए जनता से जुड़ने, अनुभवों और विश्वदृष्टि के स्तर पर सर्वहारा वर्ग में स्वयं को विलीन करने के लिए वर्गच्युत (डीक्लास) होने की जरूरत के बारे में लिखा।

लेकिन वे परिश्रम नहीं करते थे, परिश्रम करनेवालों के बारे में लिखते जरूर थे। महीनों तक कपड़े नहीं धोते थे। नहाते नहीं थे। दाढ़ी में तो खैर सर्वहारा का अधिनायकवाद लागू हो ही चुका था। अपने कमरे की साफ-सफाई पर उनका ध्यान नहीं जाता था। उन्हें देखकर यह जरूर लगता कि वे वर्गच्युत हो चुके हैं।

और तभी तीसरी दुनिया के उस सबसे बड़े विश्वविद्यालयों के अधिकारियों ने छात्रों की मांग को ध्यान में रखते हुए, दूसरे विश्वविद्यालयों के सामने एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया। 'सहशिक्षा' के साथ-साथ 'सहवास' या 'सहआवास' का उदाहरण।

जिस छात्रावास में राम सजीवन रहते थे उस छात्रावास का आधा उत्तरी हिस्सा छात्राओं के रहने के लिए कर दिया गया। छात्रावास अंग्रेजी के 'एच' के आकार का बना था। दक्षिण तरफ की डंडी में लड़कों की तिमंजिली इमारत थी जिसकी हर मंजिल पर सौ कमरे थे। उत्तर वाली डंडी के कमरों में लड़कियां रहती थीं और दोनों को जोड़ने वाले बीच के डंडे में मेस था जहां लड़के-लड़कियां ब्रेकफास्ट, लंच और डिनर लेते थे। इस तरह बैल-गाड़ियों और अस्सी प्रतिशत भुक्खड़ों के देश में वह विश्वविद्यालय ससेक्स की किसी शिक्षा संस्था की तरह सहशिक्षा, सहवास और सहभोज के हवाई मार्ग पर उड़ पड़ा।

विश्वविद्यालय के ज्यादातर लड़के-लड़कियां 'हेलो हाय संप्रदाय' से आते थे यानि ऐसे उच्च वर्गों से जहां कान्वेंट की पृष्ठभूमि के अलावा नाच-गाना और हंसना-रोना भी उसी तरह का होता है। राम सजीवन ने बड़ी मेहनत साधना और लगन से अंग्रेजी का ज्ञान अर्जित किया था लेकिन वे समझते तो खूब थे बोलने में उनका खास-बिहारी लहजा आड़े आ जाता था। 'ए भेरी गुड ईभनिंग' जैसे वाक्य तो वे बचा ले जाते लेकिन बचपन से 'वी' की जगह 'भी' की रटाई उनकी जिह्वा के संस्कारों के अंतरतम तक बैठ चुकी थी। उन्हें कभी-कभी लगता कि संस्कार कुछ विशिष्ट संदर्भों में चेतना से ज्यादा शरीर को पकड़ते हैं। उनकी चेतना स्लाईस की होती लेकिन जीभ कढ़ी की मांग करती।

एच की दक्षिणी डंडी की सबसे ऊपरी मंजिल के कमरा नंबर तीन सौ आठ की बालकनी में राम सजीवन खड़े थे। एच की उत्तरी डंडी की सबसे ऊपरी मंजिल के कमरा नंबर तीन सौ सोलह की बालकनी में वह लड़की निकल आयी थी, जो उधर रहती थी। दोनों बालकनियां आमने-सामने थीं। राम सजीवन ने आखिर उधर देखा, वह लड़की उन्हीं की ओर देख रही थी। आंखें बड़े ऐंद्रिक ढंग से लगभग एक-दूसरे का शरीर

सहलाते हुए मिलीं और इस इन्द्रिय बोध से निकलती ऊष्मा से राम सजीवन को सात्विक कंप हो गया। ललाट और नासिकाग्र पर स्वेद कण झिलमिला उठे। यह रीतिकालीन काव्य शास्त्रीय श्रृंगार लक्षण थे। अब मूर्छा की बारी थी, जिससे राम सजीवन बचे। उन्होंने अपने आप को उदासीन, गंभीर और कुछ-कुछ लापरवाह जैसा बनाया। लड़की थोड़ी देर तक बालकनी में रहने के बाद अंदर चली गयी। इस बीच राम सजीवन अपनी बालकनी से हटे तो नहीं लेकिन उन्होंने फिर से उस लड़की की दिशा में देखा नहीं। हां उसकी मौजूदगी को वे कभी अपनी पीठ पर और कभी अपनी कनपटी पर महसूस करते रहे। वह लड़की उन्हें एक उजली हरी परछाईं की तरह लग रही थी, जो अचानक बहुत आत्मीय, घरेलू और घनिष्ठ हो उठी थी।

दोपहर में मेस में खाना खाते समय उन्होंने चारों ओर सतर्क और उत्सुक आंखें दौड़ायीं, लेकिन कहीं कुछ नहीं, बहुत-सी लड़कियां खा रही थीं लेकिन मामला जादुई बन गया था। एक नजर में सारी लड़कियां उन्हें बालकनी की लड़की लगने लगतीं और दूसरे ही पल हर लड़की कोई और साबित हो जाती। खाना खाते हुए वे यह खेल विभोर होकर खेलते रहे।

राम सजीवन कमरे में ही थे, जब उनके मन में एक संगीतपूर्ण मीठे संदेह ने आंखें खोलीं। वह लड़की अपनी बालकनी पर थी और निश्चित ही राम सजीवन की बालकनी की ओर देख रही थी, वे अपने कमरे में अंधेरा करके खिड़की से उसे समूची रागात्मकता के साथ देख रहे थे। रंग खूब गोरा, आटे और महावरवाला भी नहीं, मक्खन और गुलाबवाला, बहुत हल्का सफेद बनियान जैसा 'टाप', खुली बाहें, नीचे तक खुला हुआ गला और जांघों पर फेड हुई जीन्स की विदेशी नीली पैंट, उम्र बीस के इधर या उधर। उन्हें लगा कि जैसे अजंता की किसी यक्षिणी को आधुनिक कपड़े पहना दिए गये हों। इस लड़की के गले में आवाज कैसी होगी-और हिंदी कितनी बदलकर वू डू में डूब कर निकलेगी?

वे बालकनी में निकले। लड़की गजब हिम्मत और बेफिक्री से उनकी ओर ताक रही थी। संस्कारों का फर्क है। मुहल्ले-गांव की होती तो आंख न उठाती या नीचे वाला पार्क देखने लगती। अचानक आंखें मिलीं। आह, यह एक लड़की की आंख थी, बहुत कुछ समझा दिया उस दृष्टि ने, कितने-कितने अर्थ उसमें थे। यह परिचय था-पहला। बाबू राम सजीवन को बचपन में देखी गयी रामलीला का जनकवाटिका प्रसंग याद हो आया फिर जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त से होते हुए वे शमशेर तक पहुंचे :

'हां तुम मुझसे प्यार करो,
जैसे हवाएं मेरे सीने से करती हैं
जिनको वह गहराई तक दबा नहीं पातीं
जैसे मछलियां लहरों से करती हैं...

तुम मुझ से प्यार करो
जैसे मैं तुमसे करता हूं
आईनो रोशनाई में घुल जाओ
और आसमान में मुझे लिखो और मुझे पढ़ो।
आईनो मुस्कराओ और मुझे मार डालो
आईनो मैं तुम्हारी जिंदगी हूं।

लड़की जा चुकी थी और अब वे नेरूदा में खोये हुए थे-"टुडे आई केन राईट सैडेस्ट लाइन्स....."

सुबह उन्होंने होस्टल के उत्तरी गेट के चौकीदार कुमाऊनी धीरज सिंह नेगी से पूछा कि क्या वह कमरा नंबर तीन सौ सोलह में रहने वाली लड़की के बारे में जानता है, तो उसने कहा, "उसको कौन नहीं जानता। वो तो लंदन से आयी हुई ठहरी यहां। पिता केन्या में बहुत बड़ी फैक्ट्री चलाने वाले हुए, कहा । यहां आने के पहले बेबी लंदन में सात साल पढ़ के आनेवाली हुई, बड़ा मीठा स्वभाव पाया उसने कहा, सी.पी.एस. में रिसर्च करने वाली हुई।"

यह तो 'कसप' नाम के उपन्यास से निकला आदमी मालूम होता है, राम सजीवन ने सोचा। 'नाम क्या है उसका?' उन्होंने डरते-डरते पूछा।

" पंडित जी, तुम्हारा इरादा तो नेक ही दीखे मुझे। नाम उसका हुआ अनिता चांदीवाला। गुजरात की हुई, पर गुजराती न जाननेवाली ठहरी। हिन्दी बोलने में भी जगह-जगह रुकनेवाली हुई।"

फिर चौकीदार धीरज ने उनकी ओर देखा, बीड़ी का गहरा सुट्टा खींचकर धुआं निकालते हुए हंसने लगा। खांसी और हंसी के बीच उसने बाईं आंख दबाई और कहा, 'माल लेकिन असली फटाका हुआ ठहरा।'

लुम्पन है यह। राम सजीवन ने सोचा। कामगार वर्गों के ऐसे लोगों में वर्ग चेतना पैदा करने के लिए अभी बहुत गहरी शिक्षा की जरूरत है। भारत की कम्युनिस्ट पार्टियां यही काम नहीं कर रही हैं। इसलिए तो मजदूरों, किसानों और छोटे कर्मचारियों के बीच उनका जनाधार नहीं है। अब इस चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी चौकीदार को ही देखो - उसका यह घोर स्त्रीविरोधी रुख सामंती और पूंजीवादी समाज की पतित मूल्य व्यवस्था की देन है।

राम सजीवन गुस्से में वहां से चले गए। इस पेचीदा मुद्दे पर सोचते हुए कि ऐसे लोगों को उनके आर्थिक-सामाजिक वर्गों के आधार पर परिभाषित किया जाये, या उनकी मूल्य चेतना, संस्कार, विचार और व्यवहार के आधार पर।

अनिता चांदीवाला। इस पूरे नाम में एक संगीत है। अनिता-अत्री-अत्रू, अनु, इसके कई रूप हो सकते हैं। 'चांदीवाला' सरनेम इस स्वप्न जैसे नाम को लौकिकता और

भौतिकता प्रदान करता है। अब राम सजीवन के दिन का ज्यादातर समय सामने की बालकनी को देखने और इस नाम को अकेले में बोलकर उसे अपने भीतर तक महसूस करने में गुजरता। वे कमरे में, रजाई ओढ़कर लेटे-लेटे धीरे से बोलते, जैसे सामने बैठे किसी को संबोधित कर रहे हों, 'अत्री, तो उलिसिस कैसी लगी?' फिर वे मौन होकर जेम्स जोयस के बारे में उसका जवाब सुनते। जवाब हिंदी में भी होता और मुश्किल से बनायी गयी अंग्रेजी में भी।

एक दिन उन्होंने कमरे में, रजाई के भीतर ही उससे 'हीट एंड डस्ट' और 'जेवेल इन द क्राउन' फिल्मों के बारे में पूछा। अनिता चांदीवाला ने अंग्रेजों के 'ब्रिटिश राज नास्टेल्जिया' के बारे में विस्तार से बताया। उसने बताया कि किस तरह इंग्लैंड के लोग अपने साम्राज्यवादी अतीत से बेतहाशा प्यार करते हैं। अंगूठे के बराबर सिकुड़ जाने के बावजूद अपने देश को 'ग्रेट' ब्रिटेन बोलते हैं और भारत के इतिहास को कैसे अपने मनमाफिक बदलते तोड़ते हैं। फिर उसने कहा, 'फार एक-जांपल, दि लेटेस्ट फिल्म, इन प्रासेस आफ प्रोडक्शन-'ट्रांसफर ऑफ पावर' पुट्स, दैट दी वैरी कांसेप्ट आफ डोमिनिकिन स्टेटस फोर इंडियन रिपब्लिक वाज नाट डिमांडेड बाय नेशनलिस्ट्स-नेहरूज, पटेल्ज, अटसेटरा .... अटसेटरा, बट इट वाज अ सजेसन बाय दि लास्ट वायसराय माऊंटबैटन ...'

इस लड़की के विचारों में जागरूकता भी है और अपने इतिहास को देखने का एक सही दृष्टोकोण भी। बस अगर उसे समाज के मौजूदा हालात के बारे में वैज्ञानिक तरीके से समझाया जाए और जनता से जोड़ दिया जाए तो वह संगठन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। राम सजीवन अपने पलंग पर रजाई छोड़कर बैठ गए और कहा, 'अब्साल्यूटली करेक्ट .... भ्वाट दे हैव डन, यू सी, दे हैव टर्नड अवर नेताजी सुभाष बोस, इन टु ए फत्री पोलिटिकल जोकर .....'

'ह्वाट' को 'भ्वाट' बोल जाने पर उन्हें गहरी ग्लानि हुई, उन्होंने पक्का इरादा किया कि अपनी अंग्रेजी पर टाट-पट्टी स्कूल की परछाईं तक नहीं पड़ने देंगे, आइंदा।

अनिता चांदीवाला अब भी अपनी बालकनी में निकलती। कभी-कभी नहाकर अपने बाल सुखाने वह वहीं खुली हवा में खड़ी हो जाती। खुली बाहें, बेफिक्री में उठी हुई भुजाएं, शैंपू किए हुए सूखते और अलग-अलग उड़ते बाल .... राम सजीवन अपने कमरे में अंधेरा करके चुपचाप देखते और उनकी अत्यंत आत्मीय फुसफुस वार्ता शुरू हो जाती।

एक दिन, बड़ी हिम्मत और लंबी प्रतीक्षा के बाद, अंतिम निर्णय लेकर उन्होंने कहा- 'अनु आई लव यू' पूरा कमरा देर तक इस वाक्य के संगीत में बजता रहा। मार्डेनिया और इंटिमेट की खुशबू कमरे में तैरती रही। बचपन की बड़ी सघन और तेज किलकारी ने राम सजीवन के हृदय में जन्म लिया और वह गले से निकलती-निकलती रुकी और

उसने उनके पूरे शरीर को किसी कमजोर पेड़ की तरह झकझोर दिया, वे कांप रहे थे। शरीर का तापक्रम बढ़ गया था और इस छोटे-से वाक्य को बोलने में ही उन्हें अपने शरीर की बहुत सारी ऊर्जा, सांस और लहू दांव पर लगाना पड़ा था। लेकिन एक बार इसे बोल जाने के बाद वे काफी मुक्त और हलका महसूस कर रहे थे। वे बेतहाशा खुश थे और हेमंत कुमार का गीत गाने लगे।

खुशी उन्हें दुहरी थी इसलिए कि उन्होंने इस निर्णायक, चिर प्रतीक्षित वाक्य में 'लभ' को 'लव' बोल डाला था। अनायास बिना किसी कोशिश के और यह एक कमाल था देहाती, निम्न मध्यवर्गीय, पिछड़ी, हीन भावना को उन्होंने एक जोरदार पटखनी दे दी थी और वह कमरे के फर्श पर चारों खाने चित पड़ी कराह रही थी।

एक बार राम सजीवन ने यह अनुभव किया कि वह लड़की देर से अपनी बालकनी में खड़ी है और वह उनकी प्रतीक्षा में है। वह वहां से हट ही नहीं रही थी। उदास थी और शाम की ढलती धूप को देख रही थी। राम सजीवन कमरे से निकलकर अपनी बालकनी में आ गए। वह लड़की वहीं खड़ी रही जैसे उसने पूरी आत्मीयता और मौन कृतज्ञता के साथ उनकी उपस्थिति को स्वीकार कर लिया हो। अपनी बालकनी के लोहे की गुनगुनी रेलिंग पर उन्होंने कुहनियां टेकीं और झुक कर टिक गये। लड़की फिर भी वहीं रही। संबंध प्रगाढ़ होता चला गया। हवा में एक बहुत समझदार आत्मीयता और स्वीकृति थी। कहने की कोई और जरूरत नहीं रह गयी थी। यह वही क्षण था जहां भाषा व्यर्थ होती है। 'मौन मधु हो जाये ...' यह वाक्य उनके दिमाग में तैरा । फिर सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय की पंक्ति उभरने लगी- 'मौन ही भाषा है'।

राम सजीवन ने खुद को कोसा कि कैसे-कैसे प्रतिक्रियावादी कवियों की रचनाएं उनके दिमाग में आ रही हैं, लेकिन बड़ी कोशिशों के बाद भी बाबा नागार्जुन और आलोकधन्वा की कोई कविता याद नहीं आ रही थी। उन्हें क्रांतिकारी प्रेम कविताओं के लिए या तो विदेशी क्रांतिकारी कवियों या देशी प्रतिक्रियावादी कवियों का मोहताज होना पड़ रहा था। उन्होंने याद किया कि 'स्लीपिंग प्रिंसेस' के बारे में लेनिन का कहना क्या था । प्रेम और स्वप्न को लेनिन ने भी क्रांतिकारियों के लिए जरूरी माना था और इसी वक्त राम सजीवन ने निर्णय लिया कि वे क्रांतिकारी प्रेम कविताएं लिखेंगे! हिंदी में इसकी कमी पूरी होनी चाहिए । आखिर नेरूदा, नाजिम, लोर्का, मायकोव्स्की वगैरह भी तो क्रांतिकारी थे जिन्होंने इतनी अच्छी प्रेम कविताएं लिखीं। हमारी हिंदी में यह काम धर्मवीर भारतियों, नवगीतकारों और नीरजों आदि के खाते में डाल दिया गया है। बंगला के जीवनानंद दास जैसे कवि तो दुर्लभ ही हैं, हिंदी में।

सिर्फ संगठन ही नहीं, संगठन के बाहर के परिचित लड़के भी जान चुके थे कि राम सजीवन को आजकल प्रेम हो गया है। उन्होंने स्वयं यह बात सबको बतायी थी। वे बहुत सरल, सीधे और भावुक थे। जो उनके खास मित्र थे, उनके पास, वे अक्सर रात

में पहुंच जाते और इस प्रेम की विभिन्न विकास अवस्थाओं के बारे में बतलाते। उन्होंने अपने मित्र नवीन ढौंढियाल को बतलाया था कि 'वह लड़की चाहती है कि मैं कुछ बोलूं। उससे कुछ कहूं। कल शाम हम लोग आधे घंटे तक आमने-सामने की बालकनी में चुपचाप खड़े रहे। तुम लोग इसे समझ नहीं सकते, यह एक अनोखे किस्म का प्रेम है, देखो हमने अभी तक एक वाक्य नहीं बोला है, एक दूसरे से बात नहीं की है लेकिन हम लोग उस स्टेज तक पहुंच चुके हैं जहां तक अमूमन साधारण और चालू संवेदनशीलता के लोग महीनों साथ-साथ रह कर, घूम-फिर कर पहुंचते हैं। वह वहां खड़ी रहती है चुपचाप, मैं यहां खड़ा रहता हूं खामोश। हम दोनों एक-दूसरे की मौजूदगी को 'फील' करते हैं।'

एक शाम उन्होंने अपने दूसरे दोस्त शिरीश मिश्र को बतलाया , 'आजकल मैं विशेष परिवर्तन महसूस करता हूं। लगता है अनिता इस संवादहीनता से ऊब रही है। फिर उसकी उम्र भी तो मेरे मुकाबले कम से कम पांच-छह साल कम है। इतनी परिपक्वता कहां से आ सकती है इतनी जल्दी? बहुत दिन हो भी गये हैं इस तरह। एक तरह की 'मॉनोटनी,' एक तरह का दोहराव और एकरसता पैदा हो गयी है, हमारे संबंधों के बीच आखिर है तो वह लड़की ही। इस 'सेकेंड सेक्स' का पूरा मनोविज्ञान बिल्कुल अलग होता है। पहल तो वह सिर्फ बंबइया फिल्मों में ही करती है। इसीलिए इन कामर्शियल फिल्मों को मैं यथार्थ विरोधी मानता हूं। उन्होंने दर्शकों के दिमाग में सिर्फ अवास्तविक यथार्थ की इमेज ही नहीं बिठायी है, बल्कि उन्होंने इतने बड़े संचार माध्यम की मार्फ्त एक अवास्तविक स्त्री की धारणा को भी खूब फैलाया है। नतीजा देखो, हर शहर और कस्बे का मध्यवर्गीय छोकरा खूब कंघी-वंघी करके, सजधज के किसी हीरो को डुप्लीकेट करता है और सोचता है कि उसे देखकर कोई भी लड़की उस पर मर-मिटेगी और गाना गाने लगेगी।

राम सजीवन ने नवीन ढौंडियाल से कहा, 'अब सारा मामला बड़े 'क्रिटिकल जंक्चर' तक पहुंच गया है। मैंने 'मार्क किया है कि मेस में खाना खाते वक्त कभी-कभी वह मेरी ओर जानबूझकर देखती है। आज दोपहर लंच में उसने अपना चम्मच जोरों से फर्श पर गिरा दिया था, जिससे मैं उसकी ओर देखने लगूं। दरअसल उस वक्त मैं कहीं और देख रहा था।'

एक बार वे रात दस बजे पहुंचे और उन्होंने किसी गहरे रहस्य को प्याज की तरह पर्त-दर-पर्त खोल के कहा, 'तुमने अनिता की एक चीज पिछले पांच-छह दिनों में नोट की है? वह आजकल इतना ज्यादा 'स्लीवलेस' पहनती है कि सिर्फ बाहें ही नहीं बल्कि बगलों के नीचे का काफी हिस्सा खुला हुआ रहता है। और आज उसने जो 'टाप' हरे रंग का पहन रखा था, उसका गला इतना खुला हुआ था-इतना खुला हुआ था, कि समझ लो 'मॉड' लड़कियां भी दुस्साहस नहीं कर सकतीं। तुम इसे अनिता की बेशर्मी कहोगे?

लेकिन बंधु प्यारे, ऐसा है नहीं। यह उसका एक संकेत है। यह उसकी बेचैनी और खीझ की अभिव्यक्ति है। इतना उत्तेजक कपड़ा पहनकर, अपने शरीर को इतना खोलकर वह मुझसे कहना चाहती है कि मैं अपनी मौजूदा निर्णयहीनता को तोड़ूं। मैं उससे साफ-साफ बात करूं। आखिर लड़की अपने शरीर के माध्यम से ही तो मौन को भाषा में बदलती है।'

कल्याण कुमार दास ने कहा, 'यार, तुम लड़की से सीधे बात क्यों नहीं कर लेते? जाकर उससे कह दो कि मैं आपसे कुछ जरूरी बात करना चाहता हूं। तुम खामख्वाह बैठे-बैठे मक्कड़जाल बुनते रहते हो'।

राम सजीवन आहत हुए। यही बात अनिता ने कितने अनोखे तरीके से, अपने सुन्दर युवा शरीर से मौन को भाषा में बदलते हुए, कितने गोपन ढंग से कही थी, और वही बात कल्याण कुमार दास कितने भौंडे और फूहड़ तरीके से कह रहा है। आखिर इस पूंजीवादी समाज व्यवस्था ने जिस उपभोक्तावादी मानव-समूह को पैदा किया है वह हर चीज को एक 'जिंस' और 'कमोडिटी' ही तो समझता है। जैसे लड़की बिकने के लिए तैयार बैठी हो और मैं 'एक्सचेंज' की बाजारू भाषा बोलकर उसका मोलभाव कर डालूं और उसे पटा लूं।

लेकिन ऊपर से राम सजीवन चुप ही रहे। उन्होंने चलते हुए कहा, 'हां, बस एक सही समय के इंतजार में हूं यार। वैसे बाय द वे, हमारे इस प्रेम को जैसा समझते हो, वह वैसा है नहीं। गुरू, यह एक अलग और अजब तरह का खेल है। इसका मर्म पहले घनानंद भी जानते थे-'अति सूधो स्नेह को मारग है....' यहां कोई कपट नहीं है। कोई छिपाव नहीं, हम दोनों एक दूसरे के लिए बिल्कुल निस्संक पारदर्शी हैं। एक दूसरे से हमारा कुछ भी छुपा नहीं है। रही बात आमने-सामने बैठकर, या खड़े होकर, या लेटकर, या चलते-चलते बात करने की, तो वह कोई ऐसी बड़ी तोप चीज नहीं। बंधु प्यारे, वेट करो। देखते चलो। वो भी हो जाएगा। जो-जो तुम सोचते हो, सब हो जाएगा।'

बीच में लड़की दस दिनों के लिए बाहर चली गयी थी। उसके कमरे की पिछली खिड़की खुली रह गयी थी। राम सजीवन चुपचाप अपने कमरे में लेटे-लेटे या बालकनी में खड़े होकर उस ओर देखते रहते। लड़की की यह अनुपस्थिति और उसकी पिछली खिड़की का खुला रह जाना भी उन्हें कई-कई अर्थों से भरा हुआ लगा। आखिर अपने प्रेम के लिए जैसा 'फार्म' उन्होंने चुन रखा था, उसमें भाषा के अलावा बाकी सारी चीजें भाषा थीं, संकेत थीं, उनमें कई-कई अर्थ थे।

उन्होंने शाम को अनिता की खिड़की खुली रह जाने के बाबत शिरीश मिश्र को बतलाया तो उसने कहा, 'राम सजीवन जी, हमको तो ई लगने लगा है कि अब तो आप पागल हो जाएंगे। आप कुछ करेंगे-धरेंगे नहीं, कोठरी में दिन-रात घुसे इहे सब सोचेंगे।

रउआ हमका बताईं, भला उ लड़की आप को जानती-बूझती भी है? जा के पूछें लीं ओसे कि का आपको हमार नामो मालूम है कि नहीं, जाईं।

राम सजीवन फिर आहत हुए, मर्म तक चोट लगी। इतनी सीधी और निष्कवच बातें उन्हें 'वल्गर' लगती थीं। उन्हें इस आध्यात्मिक सत्य पर पिछले दिनों अच्छी तरह यकीन हो गया था कि प्रेम कभी भी इतना सघन और तीव्र हो ही नहीं सकता, जब तक वह दोनों तरफ बराबर न हो। उन्हें पूरा भरोसा था कि जिस तरह उन्होंने चौकीदार धीरज सिंह नेगी से अनिता के बारे में पूछा था वैसे ही अनिता ने जरूर उससे उनके बारे में पूछा होगा। यह विश्वास इतना दृढ़ और इतना सत्य लगता था कि उसे किसी भी तरह से 'वेरिफाइ' करने की जरूरत ही नहीं थी। फिर उन्हें ऐसा करते हुए एक अजीब-सा डर भी लगता था। कहीं ऐसा न हुआ तो?

पूंजीवाद मानवीय कलाओं का सबसे बड़ा और निर्मम शत्रु होता है। उन्होंने चालू दुनियादार ढर्रे का प्रेम न करके एक सुंदर रचना को गढ़ने की कोशिश की थी। यहां प्रेम एक रिश्ता नहीं, एक कला थी, एक उत्कट मानवीय कलाकृति। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था का ही यह दुर्दांत प्रकोप था कि अपने निकट से निकट के दोस्तों से भी वे संवाद नहीं बना पा रहे थे। 'एलियनेशन' संबंधों के बीच अपरिचय के विंध्याचल खड़ा कर रहा था। उन्हें चेखव की 'ग्रीफ' कहानी याद आई, जिसमें अपने भीतर की पीड़ा को कहने के लिए नायक को कोई नहीं मिलता और आखिर में अपने घोड़े के गले से लिपटकर वह रोता है।

राम सजीवन को कोई घोड़ा तो नहीं मिला लेकिन उन्होंने रात में एक कविता लिखी, 'खुली खिड़की का अर्थ' जिसकी शुरू की पंक्तियां थीं:

....शिरीश मिश्र
तुम नहीं जानते कि
इतिहास में खुली रह गई एक अकेली
खिड़की का क्या अर्थ होता है
लेकिन मैं जानता हूं
खुली खिड़की का एक भविष्य होता है
जिसमें से प्रतिज्ञाओं और संकल्पों की
रोशनी फूटती है....
वगैरह वगैरह....

एक दिन दोपहर को राम सजीवन दौड़ते-दौड़ते कल्याण कुमार दास के कमरे में पहुंचे। नवीन ढौंढियाल भी वहां बैठा हुआ था।

राम सजीवन के चेहरे से खुशी के मजबूत और गदराये पेड़ की हरी फुनगियां बाहर निकल कर हिल रही थीं। फेफड़ों में ढेर सारे गुड़हल और कनेर के फूल भरे

हुए लग रहे थे। लगता था जैसे वह खुशी के गैस के गुब्बारे के साथ बांध दिये गये हों और उनके पैर जमीन पर पड़ते हुए जैसे कोई भार न डालते हों, बस हल्के-से धरती को छूते भर हों, ऊपर-ऊपर से।

राम सजीवन ने एक ही सांस में कहा, "आज गजब हो गया। अब सब कुछ बदल चुका है। यह एक ऐसा मोड़ है, जहां सारी चीजें नये सिरे से शुरू होती हैं।"

"क्या हुआ? क्या बातचीत हो गयी?" ढौंढियाल ने पूछा।

"बातचीत को तुम लोग इतना महत्व क्यों देते हो? यह समझ लो कि मेरी अब तक की रीडिंग बिल्कुल सही निकली। आज मैं बस स्टाप पर खड़ा था। उसने पूछा, 'एक्सक्यूज मी प्लीज, ह्वेदर बस नंबर ट्रिपल सिक्स इज गान?' मैंने कहा-'इट इज येट टु कम'। वह मुस्कराई, थैंक यू कहा और फिर स्टाप पर ही खड़ी हो गयी।"

कल्याण कुमार दास ने राम सजीवन को पूरी सहानुभूति से देखा और पूछा, "तो महोदय, इसमें आपका चिंतन कौन-सा संकेत ढूंढता है?"

राम सजीवन फिर मर्माहत हुए। उनका चेहरा तमतमा आया। "वैसे तो ये सारी बातें ही तुम लोगों के लिए फिजूल हैं। लेकिन अगर तुम सब अपने ही तर्कों के जरिये सारी बातों को समझना चाहते हो तो यह बताओ कि उस वक्त बस स्टाप में कम से कम बीस और लड़के खड़े थे। अनिता ने यह सवाल मुझसे ही क्यों पूछा?"

इस प्रश्न का उत्तर न कल्याण कुमार दास के पास था और न ही नवीन ढौंढियाल के पास।

एक दिन शाम छह बजे के लगभग राम सजीवन ने देखा कि अनिता ने अपनी बालकनी से एक कागज का टुकड़ा नीचे गिराया, उनकी ओर देखा, जरा-सी ठहरी और फिर अंदर चली गयी।

सब समझ गए राम सजीवन। वे सीढ़ियां उतर कर नीचे पहुंचे। हवा चल रही थी। और वहां हरी घास पर ढेरों कागज के टुकड़े थे। यहां-वहां हर तरफ । धीरे-धीरे कांपते हिलते । कुछ एकदम चुप और स्थिर जैसे मिट्टी में अपनी जड़ें फेंक चुके हों।

कौन-सा है वह कागज? कैसे उसे पहचानें? क्या लिखा होगा उसमें? रात आठ बजे तक लोगों ने देखा। बाबू राम सजीवन अपने कुर्ते की ओली बनाकर वहां के सारे कागजों को बीन रहे हैं। वे चलने को तैयार होते तभी कहीं कोई और छोटी-सी चिंदी घास के नीचे हिलती दिखाई पड़ जाती। वे उत्तेजना में कांपते हुए उसे उठाते।

उस रात दो बज गए। उन्होंने अपने कमरे की बत्ती जलाये रखकर सारे टुकड़ों को खोल-खोलकर, अच्छी तरह से उलट-पलटकर देखा। एक बार सबको देख चुकने के बाद उनके मन में शंका जागी और उन्होंने दुबारा उन्हें देखा। बीच में सोने की कोशिश की लेकिन फिर एक तेज उत्तेजना, गहरी उत्सुकता और सांस रोक देने वाली व्याकुलता ने उनकी नींद उड़ा दी और वे लगातार कई-कई बार उन्हें एक-एक कर देखते रहे। उनके

कमरे के फर्श पर, पलंग पर चारों ओर कागज की नन्हीं-नन्हीं तमाम रंगों की चिंदियां बिखरी हुई थीं और राम सजीवन उनके बीच बैठे थे।

राम सजीवन ने पूछा, 'अनु, तुम्हें पता है गांवों में लोग किस तरह से रहते हैं। बंजर जमीन और सूखे आसमान से लड़ते-जूझते उन लोगों की हड्डियां कैसे निकल आती हैं? सामंती दमन और महाजनी शोषण का एक कभी न खत्म होने वाला सिलसिला कैसे उनके जीवन को कीड़े-मकोड़ों से बदतर बना डालता है।'

अनिता की आंखें भीग गयी थीं। राम सजीवन ने रजाई से अपना सिर ढांप लिया और फूट-फूट कर रोते रहे। लगभग तीन घंटे।

राम सजीवन की आंखें फटी-फटी और लाल रहतीं। लगता कि उनका लहू गालिब के मुताबिक सिर्फ रगों में दौड़ने-फिरने का ही कायल नहीं रह गया है बल्कि आंखों में आकर ठहर गया है। मुंह खुला रहता तो खुला ही रह जाता। दाढ़ी, किसी अफ्रीकी जंगल की तरह बेतरतीब और अराजक हो चुकी थी। पतलून के पांयचों में मिट्टी और धूल लगी होती।

जब कोई उनसे कुछ कहता तो कुछ समझने में उन्हें काफी वक्त लगता और अक्सर वे कुछ और समझ जाते। फिर वे बड़ी आत्मीयता, बेफिक्री और निश्छलता से उसे अपने प्रेम के बारे में बताने लगते।

उस दिन बालकनी में अनिता के साथ एक बूढ़ी महिला खड़ी थी। कत्थई बार्डर की सफेद साड़ी पहने, बिल्कुल बगुले के पर जैसे बाल, पतली सुनहरी कमानी का चश्मा। वे दोनों उनकी बालकनी की तरफ देख रही थीं।

राम सजीवन ने हफ्तों बाद अपना चेहरा धोया, पानी की ठंडक से उनका मन खिल उठा। उन्होंने दूसरा कुर्ता पहना। बालकनी में निकले और आकाश की ओर देखकर मुस्कुराये, फिर उन्होंने नेरूदा या और किसी भी कवि की कोई कविता याद करनी चाही लेकिन पता नहीं क्यों बार-बार उनके दिमाग में बंकिम चंद्र की यही पंक्तियां घूमने लगती थीं:

"शस्य श्यामलाम् सुजलाम् सुफलाम् मातरम् बंदे मातरम्!"

राम सजीवन ने इन्हीं दिनों एक लेख लिखा, 'समाज की वर्तमान आर्थिक-राजनैतिक स्थिति और वर्गीय अंतर्विरोधों की विकास अवस्था।'

यह लेख उनके संगठन में, रात में विशेष रूप से बुलायी गयी बैठक में पढ़ा गया। राम सजीवन की वस्तुपरक दृष्टि और सामाजिक परिस्थितियों की वैज्ञानिक समझ की प्रशंसा की गयी।

उस दिन राम सजीवन विश्वविद्यालय के कैफेटेरिया में देर तक बैठे रहे। सामने कुछ मेजों को छोड़कर अनिता बैठी थी। वह अपनी नोटबुक में कुछ लिख रही थी।

राम सजीवन अच्छी तरह जानते थे कि वह नोटबुक में कुछ लिख नहीं रही है। लिखने का सिर्फ अभिनय कर रही है और अगर वह वहां बैठी है तो सिर्फ इसलिए कि वे वहां बैठे हैं।

इन दिनों सबसे बड़ा संकट था कि कोई उनसे उनके प्रेम के बारे में कुछ सुनना नहीं चाहता था। और उनके पास इसके अलावा कोई दूसरा विषय नहीं था।

संबंधों का लोप हो चुका था।

एक कारण यह भी था कि राम सजीवन अपने प्रेम के बारे में जो कुछ बतलाते, उसकी भाषा इतनी अलग होती थी कि उसे समझना और किसी के लिए संभव न था। उनके निकट के दोस्त भी उनसे कतराते। नवीन ढौंढियाल ने एक दिन बतलाया कि रात में करीब दो बजे राम सजीवन उसके कमरे में आये। उनकी आंखें चौड़ी और लाल थीं, कुर्ता फटा था और मैला था। लगभग आधे घंटे तक फ्रेंच जैसी किसी भाषा में बोलते रहे। बीच-बीच में हकलाते थे, मुंह से लार बहने लगती थी। फिर वे देर तक हंसते रहे।

नवीन ढौंढियाल, असलम अख्तर, शिरीश मिश्र, कल्याण कुमार दास सभी लोग मिलकर राम सजीवन के कमरे में पहुंचे। निर्णय लिया गया था कि राम सजीवन ने अपने चारों ओर जो संसार रच लिया है उसे तोड़कर, उसे नष्ट करके ही उन्हें बचाया जा सकता है। शिरीश ने कहा, "उन्हें 'इंटेंस स्क्रीजोफ्रेनिया' है। उनके भ्रम को असलियत से टकराकर उसे तोड़ना पड़ेगा।"

"हम कोई दया नहीं करेंगे। बीवेयर आफ पिटी" असलम ने नारा दिया।

राम सजीवन अपने कमरे में ही थे। रजाई में घुसे हुए। शिरीश मिश्र ने बात शुरू की, "देखिए सजीवन बाबू, सच्चाई तो ई है कि ऊ लड़की अभी आपका नामो नहीं जानती और न ही उसे पता है कि आप ऊ से प्यार कर रहे हैं, मंजनू की नाई।"

"और यह भी सच है कि आप बिना कुछ किये, सोचते ही सोचते पागल हुए जा रहे हैं, चलिए हमारे साथ, हम आपको अनिता चांदीवाला से मिलवा देते हैं।"

"लेकिन सजीवन बाबू, ई बात आप अच्छी तरह से जान लें कि जउन वर्ग की ऊ लड़की है ऊ वर्ग में रउआ की हालत चपड़ासीऊ से गयी गुजरी है। रऊआ का पता है कि नहीं कि ऊ लड़की का बाप केनिया में फैक्टरी चला रहा है और अनिता चांदीवाला कैंब्रिज में पढ़के इहां आयी है।"

"आप हाथ-मुंह धोइये। अच्छे कपड़े-लत्ते पहनिये, दाढ़ी-दूढ़ी बनाइये और कायदे से रहिए। जब ऐसी लड़की से प्यार किया है तो जरा उसके माफिक बनिये।"

"और नहीं बन सकते तो फौरन अपनी दुनिया में लौट आइए। आंखें खोलिए। धूप को देखिए तो फौरन अपनी दुनिया में लौट आइए। वह लड़की किसी और संसार की है। आप किसी और दुनिया के वासी हैं गुरुदेव। जो आप वर्ग-वर्ग करते रहते हैं वह ख्याली पुलाव नहीं, एक ठोस सच्चाई है। इसे जानिये। वर्गीय अंतर्विरोध में सिर्फ संघर्ष

ही नहीं होता, कवितायें ही नहीं लिखी जातीं, जुलूस और नारे ही नहीं लगते। प्यार-व्यार जैसी कई चीजें भी उसके हाथों मारी जाती हैं।"

"राम सजीवन होश में आइये।"

"आप होश में नहीं आयेंगे तो पागल हो जायेंगे।"

वे सब बारी-बारी से बोलते रहे। यह सब कुछ पहले से तैयार कर लिया गया था। यह एक क्रूर-निर्मम नाटक था।

राम सजीवन निस्पंद पड़े रहे। उसी तरह। फिर उन्होंने जोर-जोर से गाना शुरू किया। उनकी आंख से आंसू बह रहा था।

लोगों ने बाद में जाना कि यह गीता का दूसरा अध्याय था । आश्चर्य यह था कि वह बाबू राम सजीवन को याद था-पूरा का पूरा।

एक दिन हॉस्टल के वार्डन ने नवीन ढौंढियाल और कल्याण कुमार दास को अपने आफिस में बुलाया। वार्डन सदगोपाल ने उनके सामने एक अन्तर्देशीय पत्र रखा, "इसे पढ़िये आप लोग और बताइये कि क्या किया जाये?"

वह प्रेम पत्र था जिसे बाबू राम सजीवन ने अनिता चांदीवाला को लिखा था और उसे कमरा नम्बर ३१६ के पते पर पोस्ट कर दिया था। पत्र दो भाषाओं में था, अंग्रेजी में भी और हिंदी में भी। उसमें जीवनानंद दास, लोर्का, नेरूदा और टैगोर की पंक्तियां थीं। अपने हृदय के गहरे प्रेम का मर्मांतक और विदारक वर्णन था। कल्याण कुमार दास को वह पत्र किसी उत्कृष्ट क्लैसिक का एक अंश लगा।

वार्डन सदगोपाल ने कहा, "वह लड़की बहुत डर गयी है। उसने सिक्योरिटी प्रोटेक्शन की मांग की है। आज सुबह ही उसे पत्र मिला। पहले तो उसे पता ही नहीं लगा कि किसने लिखा है , फिर उसने चौकीदार धीरज सिंह नेगी से पूछा, राम सजीवन ने अपना नाम साफ लिख रखा है।"

" उस लड़की ने क्या कहा है?" ढौंढियाल ने पूछा।

" वह बहुत डर गयी है।" वार्डन ने बतलाया, " कह रही थी कि पिछले दिनों से उसे ऐसा जरूर लगने लगा था। कि एक पागल-सा आदमी लगातार उसे घूरता रहता है लेकिन उसने पहले इसे गंभीरता से नहीं लिया था। अब बात दूसरी है। आप लोग कुछ कीजिए। वैसे मैंने उसे फिलहाल समझा दिया है। लेकिन अच्छा होगा आप लोग राम सजीवन को कुछ दिनों के लिए उनके गांव भेज दें, यहां से बाहर रहेंगे, हवा बदल जायेगी तो शायद वे ठीक हो जायें।"

रात की गाड़ी से राम सजीवन को जबरन उनके गांव भेज दिया गया। सभी लोग उनके साथ स्टेशन गये। असलम अख्तर को तो साथ-साथ गांव तक भेजा गया। वह तीसरे दिन उन्हें पहुंचाकर लौटा। बाबू राम सजीवन का कमरा उस हॉस्टल से बदलकर

एक ऐसे हॉस्टल में किया गया जिसमें सिर्फ लड़के रहते थे। उनकी गैर मौजूदगी में उनका सारा सामान पहले वाले कमरे से निकालकर नये वाले कमरे में किया गया।

कुछ दिनों बाद वार्डन ने फिर कल्याण कुमार दास और नवीन ढौंढियाल को बुलाया और उनके सामने अंतर्देशीय पत्रों का एक पुलिंदा रख दिया। सभी पत्र राम सजीवन ने गांव से लिखे थे। अनिता चांदीवाला ने उन पत्रों को खोला भी नहीं था और चौकीदार धीरज सिंह नेगी के हाथों वार्डन के पास भेज दिया था।

वे पत्र मेज पर रखे थे। हवा में धीरे-धीरे कांपते, बिल्कुल बंद, उन्हें किसी ने भी नहीं पढ़ा था। कल्याण कुमार दास ने उन्हें उठाकर अपने झोले में डाल लिया, जिसके भीतर गहरा अंधेरा था।

राम सजीवन अब फिर लौट आये हैं, एक साल तक गांव में रहने के बाद, अनिता चांदीवाला रिसर्च खत्म करके केनिया जा चुकी है। कल्याण कुमार दास एक अखबार में उपसंपादक हो गया है। नवीन ढौंढियाल को गोहाटी के किसी चायबागान में अच्छी नौकरी मिल गयी है।

राम सजीवन को पूरा यकीन है कि अनिता चांदीवाला अभी भी यहीं विश्वविद्यालय में है। वह किसी अदृश्य इम्तहान में से गुजर रहे हैं।

राम सजीवन अभी भी समाज की वस्तुगत परिस्थितियों, दर्शन की भौतिकवादी परम्पराओं, वर्गीय अंतर्विरोधों पर कभी-कभी लेख आदि लिखते रहते हैं।

लेखक परिचय

जयशंकर प्रसाद
जन्म : सन् 1889, वाराणसी
प्रमुख छायावादी कवि
कहानी-संग्रह : 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आंधी' व 'इंद्रजाल'
नाटक : 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी'
उपन्यास : 'कंकाल', 'तितली', 'इरावती'
निधन : सन् 1937

द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'
जन्म : 1915
प्रमुख कहानी-संग्रह : 'प्यार के भूखे', 'छोटा डाक्टर', 'आसरा'

शिवप्रसाद सिंह
जन्म : 9 अगस्त, 1928 बनारस
कहानी-संग्रह : 'अंधकूप' व 'एक यात्रा सतह के नीचे'
[संपूर्ण कहानियां]
उपन्यास : 'अलग-अलग वैतरणी', 'गली आगे मुड़ती है' व 'नीला चांद'

फणीश्वर नाथ रेणु
जन्म : 4 मार्च, 1921 औराही हिंगना, पूर्णिया [बिहार]
प्रमुख कहानी-संग्रह : 'ठुमरी', 'अगिन खोर', 'आदिम रात्रि की महक', 'एक श्रावणी दोपहर की धूप'
प्रमुख उपन्यास : 'मैला आंचल', 'परती परिकथा', 'दीर्घतपा', 'जुलूस'
निधन : 11 अप्रैल 1977

लक्ष्मीनारायण लाल
जन्म : 4 मई, 1927
प्रमुख कृतियां : 'मन वृंदावन', 'आदा कैक्टस', 'मि. अभिमन्यु', 'अब्दुल्ला दीवाना', 'कफ्र्यू', 'रक्त कमल' और 'संस्कारध्वज'
निधन : 11 नवंबर, 1987

निर्मल वर्मा
जन्म : 1928, शिमला
प्रमुख कहानी-संग्रह : 'परिंदे', 'जलती झाड़ी', 'पिछली गर्मियों में', 'बीच बहस में', 'तीन एकांत' व 'कौए और कालापानी'
प्रमुख उपन्यास : 'वे दिन', 'लाल टीन की छत', 'एक चिथड़ा सुख'

मन्नू भंडारी
जन्म : 3 अप्रैल, 1931, भानपुरा (मध्य प्रदेश)
प्रमुख कहानी-संग्रह : 'मैं हार गई', 'तीन निगाहों की तस्वीर', 'एक प्लेट सैलाब', 'यही सच है' व 'त्रिशंकु'
प्रमुख उपन्यास : 'आपका बँटी', 'महाभोज' व 'कलवा' [किशोर उपन्यास]

कमलेश्वर
जन्म : 6 जनवरी, 1932, मैनपुरी
प्रमुख कहानी-संग्रह : 'राजा निरबंसिया', 'कस्बे का आदमी', 'खोई हुई दिशाएं', 'मांस का दरिया', 'बयान' व 'जिंदा मुर्दे'
प्रमुख उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियां', 'डाक बंगला', 'आगामी अतीत', 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' व 'काली आंधी'

उदय प्रकाश
जन्म : जनवरी 1952, छत्तीसगढ़ अंचल के एक गांव में
कहानी-संग्रह : 'दरियाई घोड़ा' व 'तिरिछ'
कविता-संग्रह : 'सुनो कारीगर' व ' अबूतर-कबूतर '
अनुवाद : 'कला अनुभव', 'इंदिरा गांधी की आखिरी लड़ाई', 'रोम्यां रोलां का भारत' (आंशिक), 'लाल घास पर नीले घोड़े' [नाटक]

प्रेम कहानियां

"मेरी सांस जहां-की तहां रुक जाती है, आगे के शब्द सुनने के लिए. पर शब्द नहीं आते. बड़ी कातर करुण और याचनाभरी दृष्टि से मैं उसे देखती हूं, मानो कह रही होऊं कि तुम कह क्यों नहीं देते निशीथ, कि आज भी तुम मुझे प्यार करते हो, तुम मुझे सदा अपने पास रखना चाहते हो, जो कुछ हो गया है, उसे भूलकर तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो. कह दो, निशीथ, कह दो..... यह सुनने के लिए मेरा मन अकुला रहा है, छटपटा रहा है. मैं बुरा नहीं मानूंगी. जरा भी बुरा नहीं मानूंगी. मान ही कैसे सकती हूं, निशीथ. इतना सब हो जाने के बाद भी शायद मैं तुम्हें प्यार करती हूं—शायद नहीं, सचमुच ही मैं तुम्हें प्यार करती हूं."

– इसी संग्रह की कहानी 'यही सच है' से.

रूपा हिंदी पेपरबैक

रू० 15

गल्प-साहित्य